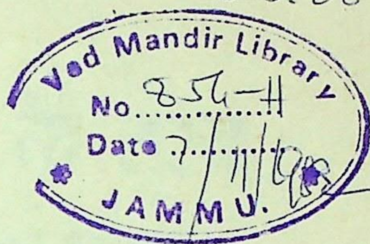
नाटक के तत्व

(मनोवैज्ञानिक अध्ययन)

कमलिनी मेहता



नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

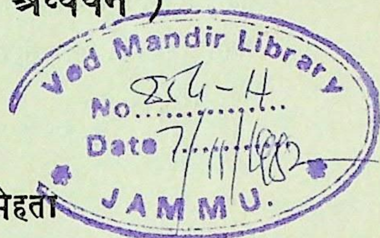

Ved Mandir Library
No. 854-H
Date 7/11/98
JAMMU.



नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला–५६

नाटक के तत्व

(मनोवैज्ञानिक अध्ययन)



कमलिनी मेहता



नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

मुद्रक : शंभुनाथ वाजपेयी, राष्ट्रभाषा मुद्रण, वाराणसी

संवत् : २०००, प्रथम संस्करण, ११०० प्रतियाँ

मूल्य : ३.५० पै०

५.००

प्रकाशकीय

नागरीप्रचारिणी सभा ने अपनी जिन ग्रंथमालाओं द्वारा हिंदी को श्रीसंपन्न बनाने का प्रयत्न किया है उनमें 'नागरीप्रचारिणी ग्रंथ-माला' का विशिष्ट योगदान है। प्राचीन ग्रंथों की खोज का कार्य आरंभ होने पर खोजविवरण के प्रकाशन के साथ ही हिंदी के विशेष लाभ की दृष्टि से सभा ने यह भी अनुभव किया कि खोज में प्राप्त चुने हुए ग्रंथों का प्रकाशन भी हो। उसने संवत् १९५७ वि० (सन् १९०० ई०) से इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये 'नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला' का आयोजन किया। उस समय इसकी पृष्ठसंख्या ६४ और मूल्य आठ आने स्थिर किए गए। वर्ष में इसके चार अंकों के प्रकाशन का भी निश्चय किया गया था। इस ग्रंथमाला के संवत् १९७६ तक चौंसठ अंक प्रकाशित हुए। इस समय तक इस ग्रंथमाला के संपादक क्रमशः श्री राधाकृष्ण दास (संवत् १९६१ तक) थे, महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी (संवत् १९६५ तक), श्री माधवप्रसाद पाठक (संवत् १९६७ तक) और श्री श्यामसुंदरदास (संवत् १९७६ तक) रहे। प्रांतीय सरकार ने इस ग्रंथमाला की उपयोगिता के कारण ३०० रु० वार्षिक की सहा-यता पाँच वर्षों के लिये संवत् १९६१ में देना स्वीकार किया। फलस्वरूप इसकी पृष्ठसंख्या ८० कर दी गई पर इसका मूल्य आठ आने ही रहने दिया गया। इस ग्रंथमाला में तबतक ग्रंथ खंडशः प्रकाशित होते थे। संवत् १९७७ से इस ग्रंथमाला में पूरे ग्रंथों का प्रकाशन आरंभ हुआ। अलवर नरेश महाराज सवाई जयसिंह ने इस ग्रंथमाला के लिये ६००० रु० सभा को दिया। तबसे यह ग्रंथमाला निरंतर प्रकाशित हो रही है और हिंदी के भांडार को सुसंपन्न कर रही है।

इस ग्रंथमाला में अबतक ५५ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। पृथ्वीराज रासो जैसा बृहद् ग्रंथ सभा ने इसी माला में प्रकाशित किया। इस माला में अब निम्नांकित ग्रंथ प्राप्य हैं :

१–भक्तनामावली, २–हम्मीररासो, ३–भूषण ग्रंथावली, ४–जायसी ग्रंथावली, ५–तुलसी ग्रंथावली, ६–कबीर ग्रंथावली, ७–सूरसागर, ७–खुसरो की हिंदी कविता, ९–प्रेमसागर, १०–रानी केतकी की कहानी, ११–नासिकेतोपाख्यान, १२–कीर्तिलता, १३–हमीर हठ, १४–नंददास ग्रंथावली, १५–रत्नाकर, १६–रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना, १७–हिंदी टाइपराइटिंग, १८–हिंदी साहित्य का इतिहास, १९–घनानंद और उनकी स्वच्छंद काव्यधारा, २०–प्रतापनारायण ग्रंथावली, २१–तुलसीदास, २२–हिंदी में मुक्तक काव्य का विकास।

नाटके के तत्व : मनोवैज्ञानिक अध्ययन इस ग्रंथमाला का ५६वाँ पुष्प है। सुश्री डा० कमलिनी मेहता की इस कृति में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नाटक के तत्वों पर प्रकाश डालने का महत्वपूर्ण प्रयत्न किया गया है। आशा है, हिंदी जगत् में इसका संमान होगा।

मकर संक्रांति
२०२० वि०

सुधाकर पांडेय
प्रकाशन मंत्री

उन्हीं को

समर्पित

जिन्होंने प्रेरणा दी,

सहायता दी,

और

शुभकामनाएँ दीं

।

विषयसूची

उन्हीं को
समर्पित
जिन्होंने प्रेरणा दी,
सहायता दी,
और
शुभकामनाएँ दीं

आभार

आज मेरी यह लघु पुस्तिका साहित्यजगत् में प्रवेश करने जा रही है। संभव है इसकी भाषा अटपटी हो, विचार अप्रौढ़ हों, किंतु श्रद्धेय डा० रामप्रसाद जी त्रिपाठी ने अपना अमूल्य समय देकर, इसका प्राक्कथन लिखकर एवं मुझे अपना स्नेहभाजन बनाकर इस पुस्तिका का जो गौरव बढ़ाया है उसके लिये किन शब्दों में मैं उनका आभार मानूँ। वे अत्यंत पूज्य हैं; उनकी प्रशंसा में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाना होगा। मेरी श्रद्धा उनके चरणों में नत है। आशा है, इसी प्रकार मुझे उनका स्नेहाशीर्वाद सर्वदा प्राप्त होता रहेगा।

मैं नागरीप्रचारिणी सभा तथा उसके प्रकाशन मंत्री श्री सुधाकर पांडेय जी की अत्यंत अनुगृहीत हूँ। उन्हीं के आग्रह और सहयोग से यह पुस्तिका प्रकाशित हो पाई है।

अंत में, मैं श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' जी को धन्यवाद देती हूँ— जिन्होंने प्रूफशोधन करके मुझे कृतज्ञ किया है।

कमलिनी मेहता

प्राक्कथन

संजनन, परिवर्तन तथा विनशन का चक्र सृष्टि के आरंभ से चल रहा है। उनका प्रभाव मनुष्य पर जिसे प्रकृति ने स्मृति तथा चिंतन शक्ति प्रदान की है, उसकी प्रारंभिक दशा से आज तक पड़ता जा रहा है। स्वभावतः मनुष्य सुख के साधन और दुःख के निवारण के लिये अपनी शक्ति और अवसर के अनुकूल प्रयत्न करता रहता है। जीवन के सभी स्तरों पर व्यक्ति को ही नहीं समाज को भी रात्रि और दिन के समान सुख दुःख का सामना करना पड़ता रहा है। उस विषम समस्या के सुलझाने के लिये उसे नाना प्रकार के विधि-विधान बनाने की आवश्यकता अनिवार्य रूप से रही। उसी नैसर्गिक प्रेरणा के कारण सभ्यता एवं संस्कृति के वट वृक्षों से धरातल लदता गया। प्रयत्नों और संघर्षों की सफलताओं एवं विफलताओं की प्रतिक्रियाओं से संवेदन, वासनाएँ, तृष्णाएँ, लालसाएँ उत्पन्न हुईं जिनकी पूर्ति अथवा शांति के लिये शम, दम, संयम, नियम आदि की विविध युक्तियाँ बनती या बिगड़ती रहीं। सानुकूल की साधना और प्रतिकूल का वर्जन मनुष्य का मुख्य ध्येय रहा है और संभवतः रहेगा। अर्थ तथा काम की अनुपाततः सुलभ साधना के लिये व्यवस्थाएँ बनीं। धर्म तथा मोक्ष की कल्पना और प्राप्ति का विषय सब से संदिग्ध और विवादास्पद रहा।

उपर्युक्त ध्येयों तथा प्रेरणाओं से अनेकानेक प्रकार के सांस्कृतिक प्रयत्न हुए। उन्हीं में वे प्रदर्शन भी हैं जिनका एक विशिष्ट रूप नाटक में

विकसित हुआ। विनोद, क्रीड़ा, हास-उपहास, सुखद भावनाओं, दृश्यों, घटनाओं और उनसे प्रभूत संवेदनाओं की पुनरावृत्ति की इच्छा मनुष्यों में स्वभावतः पाई जाती है। उसी के साथ-साथ आदिम युगों से यह भी धारणा चली आती है कि ध्येय की सिद्धि में अनेक प्रकार के विघ्न होते हैं जिनमें परोक्ष शक्तियों का बहुत बड़ा हाथ है। अतः विघ्नकारक शक्तियों को येन केन संतुष्ट करना अथवा उनको दूर भगा देना अत्यंत आवश्यक है। विघ्न के प्रत्यक्ष कारणों का निवारण करना उतना दुःसाध्य नहीं जितना कि अप्रत्यक्ष का। उनको तो अनुष्ठानों के द्वारा ही सन्मुख अथवा पराङ्मुख किया जा सकता है। पुरातन युग में प्रदर्शनों एवं नाटकों की गणना उन्हीं अनुष्ठानों में थी। उनसे दैविक अनिष्ट का निवारण और इष्ट का साधन एक साथ ही संभव माना जाता था।

मनुष्य ने परोक्ष देवी, देवताओं, भूत-प्रेतों की कल्पनाएँ न्यूनाधिक स्वभावानुकूल की। देवी-देवताओं में भी प्रायः वैसी ही वस्तुएँ और व्यापार सुखद अथवा दुःखद माने गए जैसे कि मनुष्यों में हैं। फलतः मांस, मद्य, अन्य भोज्य एवं पेय पदार्थों तथा गान, नृत्य, मैथुन आदि के प्रदर्शनों से उनको प्रसन्न करने और उनसे स्फूर्ति बल और ध्येयों की सफलता प्राप्त करने के लिये अनेकानेक विधान बना लिए गए। मनुष्य जरामृत्यु का शिकार होता है किंतु देवी-देवता प्रायः उनसे और देश-काल के बंधनों से मुक्त माने जाते थे। यदि उनमें यह विशेषताएँ न होतीं तो वे भी मनुष्य के तुल्य होते। किंतु वे भी काम, क्रोध, मोह आदि के प्रभावों से युक्त हैं मुक्त नहीं।

नाटकों तथा अन्य प्रकार के प्रदर्शनों का संबंध धर्म से पुरातनकाल से रहा। देवालयों, तीर्थस्थानों में वे प्रायः दिखाए जाते थे। मनोविनोद के लिये भी राजाओं अथवा नेताओं की अध्यक्षता में निश्चित स्थान

पर उत्सवों और पर्वों पर भी उनका प्रदर्शन होता था। शरत्, वसंत, ऋतुपरिवर्तन, बीजवपन, शस्यांकुरदर्शन, फसल काटने पर तथा जन्म, विवाहादि के अवसर उन प्रदर्शनों के लिये विशेषतः उपयुक्त समझे गए। ऋतुराज, रतिराज को उन प्रदर्शनों में सबसे प्रमुख स्थान प्राप्त था। जन्म, यौवन तथा निधन मूलतः उनके मुख्य विषय थे। पूर्व काल में श्रेय और प्रेय के बीच में कोई विशेष पर्दा न था। दोनों संयुक्त होकर ध्येय की पूर्ति करते थे। नाटकों और प्रदर्शनों के विकास का इतिहास कुतूहलवर्धक, मनोरंजक एवं ज्ञानप्रद भी है।

दो ढाई सहस्र वर्ष हुए जब नाटकों पर शास्त्रीय विचार स्पष्ट रूप से होने लगा। यूनान में अरस्तू और हमारे देश में भरतमुनि ने काव्य तथा नाटकों के संबंध में अपने विचार लिपिबद्ध किए। उनके विचारों और धारणाओं पर अभी तक विचार विमर्श होता रहा है। भरत ने 'रस' तत्व को काव्य तथा नाटकों का प्राण-सा माना। उनके सिद्धांत पर भारतीय विद्वानों ने बड़ी ऊहापोह की और रस तत्व को पुष्ट करने के अन्य साधनों की ओर ध्यान आकर्षित किया। फिर भी 'रस' की समस्या का ऐसा स्पष्टीकरण न हो सका कि जिससे तज्जनित शंकाओं का निर्णयात्मक समाधान हो जाता। अँगरेज विद्वान कीथ ने 'रस' संबंधी विवेचनाओं को सारहीन वागाडंबर और काल्पनिक प्रलाप-सा कह दिया। प्रश्न तो यह है कि क्या काव्य अथवा नाटक में स्वतः रस रहता है जिससे पाठक अथवा दर्शक अभिभूत होकर तन्मय हो जाते हैं अथवा रस का तत्व जाग्रत या सुषुप्त दशा में मनुष्य में होता है जो काव्य या नाटकादि-प्रदर्शन से वैसे ही भड़क उठता है जैसे वायु के झकोर से अग्नि दहकने लगती है। यह भी प्रश्न उठ सकता है कि प्रदर्शन और दर्शकों के संयुक्त एवं पारस्परिक अनुभूतियों के फलस्वरूप जो हार्दिक अथवा मानसिक संवेदनात्मक प्रस्फुरण या कैफियत पैदा होती है उसी को रसानुभूति कहते हैं? विषय निस्संदेह गूढ़ एवं गहन है जिसका निरूपण

दार्शनिक सिद्धांतों और भावनात्मक संवेदनाओं के दृष्टिकोणों से भी संभव है। उन पुरातन विचार शैलियों से विषय के समझने में यह स्पष्टता और सरलता नहीं होने पाती जिसकी सर्वसाधारण को आवश्यकता है। प्रस्तुत पुस्तक में विदुषी लेखिका ने उसका निरूपण मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है जिससे समझने में सुविधा हो जाती है। मनोवैज्ञानिक आधार पर रस की प्रतिष्ठा करने से विषय बौद्धिक कोटि में आ जाता है। फिर भी यह प्रश्न रह जाता है कि क्या मनुष्य की संवेदनाएँ उसके जीव या 'आत्मा' से अथवा उसकी शारीरिक रचना से पूर्णतया अथवा अंशतः प्रभावित होती हैं। संभव है कि प्रयोगात्मक मनोविज्ञान आगे चलकर कुछ नया प्रकाश डाल सके। संप्रति वह अपनी प्रारंभिक दशा में ही उलझा हुआ है।

रससिद्धांत के मनोवैज्ञानिक आधार के अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रंथ में नाटक के अन्य तत्वों पर भी सूक्ष्मतः विचार किया गया है जो व्यावहारिक दृष्टि से मनोरंजक एवं उपयोगी हैं। दुर्भाग्यवश अभी तक हमारे देश में नाटकों और प्रदर्शनों का उतना विकास एवं विस्तार नहीं हुआ जितना कि पाश्चात्य देशों में। नाटक के व्यवसाय की पश्चिम में अपूर्व उन्नति हुई और हो रही है जिसका न्यूनाधिक प्रभाव एशिया के देशों पर पड़ने लगा है। फलतः उसका क्षेत्र बढ़ता और संपन्न होता जाता है। उस पर राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक मूल्यों का रंग पड़ता और बढ़ता जा रहा है। यद्यपि समस्याओं का अपना महत्व है तथापि आर्थिक लाभ की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। उसकाएक परिणाम यह भी हुआ कि नाटकों द्वारा विभिन्न मतों के प्रचार के साथ ही साथ मनोरंजन के विविध विधानों पर भी बल दिया जाता है। दो विश्वव्यापी युद्धों तथा उनकी प्रतिक्रियाओं ने जीवन के मूल्य तथा सुख साधन के विधानों पर आमूलतः ध्यान आकृष्ट किया। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक समस्याओं को लेकर नाना

प्रकार के नाटकों की रचना होती है किंतु फिर भी नारी-पुरुष के आकर्षण-विकर्षण, योग-वियोग, स्वतंत्रता-परतंत्रता, प्रेम-प्रपंच आदि की रंगमंच पर अनुपाततः अब भी प्रधानता है।

उपर्युक्त परिस्थितियों में यह प्रश्न उठता है कि किन अभिनयों से लाभ और किन से हानि होने की संभावना है। श्रद्धा, पातिव्रत, पत्नीव्रत, सामाजिक नियम, नैतिक-विधान, आदि सदसद् का विवेक रखकर शुभ मर्यादाओं का पोषण और अशुभ का विरोध करना विवेकसंगत माना जाता है। किंतु इस सिद्धांत का सार्वजनिक संमान कई कारणों से नहीं होने पाता। एक कारण यह है कि उपर्युक्त धारणाएँ विवादास्पद हो गई हैं। किंकर्तव्यमकर्तव्यं के विषय में 'कवयोऽप्यत्र मोहिताः'; यदि यह कहा जाय कि 'महाजनो येन गतः स पन्था' तो विद्रोहात्मक विचारों का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। 'नैकोमुनिर्यस्य मतिर्नभिन्ना।' वाक्य विचाराचारी के विषय में भ्रम और विभ्रम के बाहुल्य का द्योतक है। साधारणतः यह कहा जाता है कि ऐसे प्रदर्शन जो कामुकता, क्रूरता, नीचता, निर्दयता, नृशंसता का प्रदर्शन करनेवाले हों अश्रेयस्कर अतएव त्याज्य समझना चाहिए। प्रदर्शक उसका यह उत्तर देते हैं कि रंगमंच जीवन की वास्तविक गति के प्रदर्शन से अछूता नहीं रह सकता। वस्तुतः वह उसे प्रतिबिंबित करता है। अंततोगत्वा बुराई का परिणाम बुरा और भलाई का भला प्रत्यक्ष अथवा सांकेतिक रूप से दिखाया जाता है। उन्नीसवीं शती तक पाश्चात्य देशों में स्त्रियों का स्थान मध्ययुग की विचारधाराओं के अनुकूल चलता था। उससे असंतुष्ट होकर स्त्रियों ने पुरुष के समान 'अधिकार-आंदोलन' करके बीसवीं शती में कमोवेश पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त कर लिए। फिर भी फ्रांस में पति को अपनी स्त्री को मारने-पीटने का कानूनी अधिकार बीसवीं शती में भी है। पहले स्त्रियाँ अपने टखने तक ढके रहती थीं अब वे छोटे जांघिये और चुस्त कंचुकी पहने निर्विघ्न खेलती कूदती, तैरती और नाट्य करती हैं। प्राच्य देशों में यह सब

निर्लज्जतापूर्ण व्यापार समझे जाते हैं तथापि धीरे धीरे पाश्चात्य विचारों के साथ वे आते ही जा रहे हैं। जब उनके राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विचारों को लेने में प्राच्य देश कटिबद्ध से हैं तब उनके सामाजिक रहनसहन की उपेक्षा बहुत दिनों तक नहीं की जा सकती। पुराने बाँध तोड़े जा रहे हैं और नवीन मर्यादाएँ अथवा अमर्यादाएँ प्रतिष्ठित हो रही हैं। उनके गुणावगुणों के विषय में विभिन्न मत हैं। सामयिक गतिविधि की उपेक्षा रंगमंच नहीं कर सकता विशेषकर इसलिये कि वह सामयिक रुचि के अनुकूल होने के कारण आर्थिक लाभ भी देती है। एक और प्रबल कारण यह भी है कि मनुष्य कुतूहलप्रिय और उत्तेजनात्मक और स्फूर्तिदायक प्रसंगों की ओर प्रायः आकर्षित होता ही है। कर्तव्याकर्तव्य के बंधनों से ऊबकर अपनी अतृप्त वासनाओं की कशमकश से व्यथित होकर ऐसा वातावरण ढूँढ़ता है जहाँ उसे अँगड़ाई लेने का निर्विघ्न अवसर मिले चाहे वह थोड़ी देर के लिये ही क्यों न हो। गरीब के लिये दूसरा मार्ग ही नहीं दिखाई पड़ता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट-सा प्रतीत होता है कि प्रेय और श्रेय के बीच में कोई मनमानी रेखा नहीं खींची जा सकती है। उन शब्दों की परिभाषाएँ बनती-बिगड़ती चली जाती हैं। उन दोनों में प्रेय का प्राधान्य ऐतिहासिक एवं मानवीय प्रवृत्ति द्वारा स्वयंसिद्ध है। साधारणतः प्रेय के लिये ही पैसा खर्चकर लोग प्रदर्शनों में जाते हैं। यदि गौण रूप से कुछ अन्य लाभ भी हो जाय तो दूसरी बात है किंतु उनका वह ध्येय नहीं है। यह सब होने पर भी प्रायः यह सभी मोटे तौर पर मानते हैं कि नितांत फूहड़ और स्त्री पुरुष के अत्यंत व्यक्तिगत गोपनीय प्रसंगों का खुल्लमखुल्ला प्रदर्शन अनुचित है। ऐसे प्रदर्शन पाश्चात्य समाज में भी न तो श्रेय और न प्रेय माने जाते हैं। उनको अवरुद्ध रखने के लिये कानून भी बने हुए हैं। प्राच्य देशों में तो अधिक प्रतिबंध हैं। यह है सामयिक स्थिति। भविष्य में क्या होगा यह कल्पना

का विषय है। प्रस्तुत ग्रंथ में लेखिका ने इस विषय को अप्रासंगिक अथवा घोर विवादास्पद समझकर छोड़ दिया है। इतना तो वह भी मानती हैं कि श्रेय की मर्यादाएँ देश, काल, समाज के अनुसार निर्धारित होती हैं उनके विषय में विश्वव्यापी अथवा त्रिकालसत्य, ध्रुव सिद्धांत बनाना संभवतः असंभव है। लेखिका ने भारतीय मर्यादा का संमान रखने के लिये नाटक को केवल मनोरंजन का साधन न कहकर भाव तथा विचार संशोधन अथवा आत्मोत्थान में योग देना ही उसका मुख्य उद्देश्य माना है। मनुष्य का संघर्षों में फँस जाना ही विदुषी के मत में उसे देवता होने से वंचित रह जाने का कारण हुआ। शायद उन्होंने पौराणिक अनुश्रुतिओं की ओर ध्यान नहीं दिया। देवता भी यूनान में ही नहीं भारत की धारणानुसार भी काम क्रोध, मोह, लोभ तथा मत्सर से नितांत मुक्त नहीं रहे। आजकल उनकी क्या स्थिति है हमें ज्ञात नहीं ?

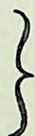
प्रस्तुत ग्रंथ सर्वथा पठनीय और विचारणीय है। भाषा सरल और उसका प्रवाह विमल एवं शक्तिसंयुक्त है। न तो भाषा विचारों में और न विचार भाषा में व्याघात करते हैं। दोनों समरसता के साथ अनवरत गति से प्रवाहित हैं। काव्य संबंधी विवेचना में प्रायः भाषा जटिल और संस्कृतनिष्ठ हो जाती है किंतु प्रस्तुत ग्रंथ में ऐसा नहीं होने पाया।

ग्रंथ की दूसरी विशेषता विचारों की स्वतंत्रता है। इसमें न तो प्राच्य और न पाश्चात्य धारणाओं का अंधानुकरण है और न उन्हें हठपूर्वक संस्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। विदुषी ने यह चेष्टा अवश्य की है कि उनमें सामंजस्य और विभिन्नता का स्पष्टीकरण हो जाय।

यद्यपि ग्रंथ का आकार विशाल नहीं तथापि उसमें काव्य विशेषतः नाटक संबंधी सिद्धांतों पर बहुत कुछ प्रकाश डाला गया है और प्रसंग स्पष्ट कर दिए गए हैं। उनके पढ़ने से चिंतन को उत्तेजना प्राप्त होती

है। ग्रंथ-प्रणयन के कौशल के लिये विदुषी लेखिका प्रशंसा की अधिकारिणी है। ऐसे सुलभ, सुपाठ्य, सुग्राह्य एवं मार्मिक विवेचन के लिये हिंदी तथा नाटकप्रेमी उनके अनुगृहीत होंगे और यथावत् ग्रंथ का संमान करेंगे।

विश्वकोश कार्यालय
नागरीप्रचारिणी सभा
वाराणसी
२६-३-६३



रामप्रसाद त्रिपाठी

भूमिका

पूर्व, पूर्व है; पश्चिम, पश्चिम; दोनों का संयोग
कभी न हो सकेगा[1]

प्रसिद्ध लेखक रुडयार्ड किपलिंग का यह कथन आज इस अणु-परमाणु के युग में, जब कि समस्त विश्व प्रच्छन्न रूप में वैज्ञानिक साधनों की सहायता से एक एकाई में बँध गया है, मान्य नहीं है। आज ये विचार अदूरदर्शिता और उस हृदय-संकीर्णता का परिचय देते हैं जिसके कारण मनुष्य-मनुष्य में विभिन्नता आ गई। राजनीतिक तथा धार्मिक क्षेत्र में असहिष्णुता दुःखद होने पर भी उतनी हानिप्रद नहीं है जितनी कला के क्षेत्र में। कला का मानव जीवन से निकटतम संबंध है, अपितु वही जीवन है। किंतु हम देखते हैं कि यह पूर्व-पश्चिम का भेद साहित्यजगत् में भी प्रवेश कर चुका है। संस्कृत काव्य का बिना व्यापक विवेचन किए ही प्रसिद्ध विद्वान डा० कीथ यह कह पड़े हैं कि 'नाटकारों ने आँख मूँदकर शास्त्र-प्रदत्त नियमों को मान लिया है जिसका आधार न तो तार्किक है और न मनोवैज्ञानिक ही। उतावली में कतिपय नाटकों के आधार पर अधिकांश नियम सिद्धांत प्रतिपादनार्थ बना दिए हैं।'[2] यह दृष्टि-संकीर्णता केवल पाश्चात्य समीक्षकों का ही दोष नहीं है वरन् पाश्चात्य वातावरण की प्रतिक्रिया में हमारे साहित्यमनीषी भी एकपक्षता में पीछे नहीं रहे हैं। 'व्यक्ति वैचित्र्यवाद रसनिष्पत्ति के प्रतिकूल है अतः अग्रहणीय है।' अथवा 'अरस्तू कला को अनुकरण मानता है। लोकोत्तर

---

१. दि ईस्ट इज़ ईस्ट द वेस्ट इज़ वेस्ट
ऐंड नेवर द ट्वेन शैल मीट

२. डॉ० कीथ—द संस्कृत ड्रामा इन इट्स ऑरिजिन डेवलपमेंट, थ्यौरी ऐंड प्रैक्टिस।

आनंद की सत्ता पर विचार नहीं किया गया...."[1] आदि अनेक बातें मत-विभिन्नता को लेकर कही गई हैं। वास्तव में विचार-विनिमय तथा भावों के आदान प्रदान का किसी ओर से प्रयास ही नहीं हुआ—संभवतः इसका कारण राजनीतिक हो—किंतु ऐसी ही यह अंधविश्वासी साहित्यिक एकपक्षता भी है।

वास्तव में सिद्धांत प्रतिपादन के चक्कर में हम यह बहुधा भूल जाते हैं कि पूर्व अथवा पश्चिम, दोनों के निवासी मानव हैं। एक ही प्रकार की आत्मा से अनुप्राणित हैं तथा एक ही प्रकार के मनःक्षोभों से प्रेरित होकर हँसते और रोते हैं। अब तक हमारी दृष्टि इस ओर गई ही नहीं कि देशकाल की विभिन्नता होते हुए भी पूर्व और पश्चिम में भावसाम्य हो सकता है, विशेषतः साहित्यजगतमें जहाँ दोनों का सच्चा कलाकार सौंदर्य-प्रदर्शन द्वारा रसानंद प्रदान करने के लिये शुद्ध कला का निर्माण करता है। अस्तु, इस प्रकार के पक्षपातपूर्ण सिद्धांत निर्मूल हैं।

हमारे नाट्यसाहित्य पर आचार्य कीथ का यह आक्षेप कि भरतमुनि आदि प्रतिपादित नियमों का कोई मनोवैज्ञानिक आधार नहीं है—हमारे संमुख यह प्रश्न उपस्थित करता है कि क्या सचमुच भारतीय शास्त्रकारों ने नाटक के तत्व विधान में मनोविज्ञान अथवा तर्क की उपेक्षा की है? इसी प्रकार 'प्रसादजी' के कथन द्वारा उत्पादित जिज्ञासा यह जानने को प्रेरित करती है कि क्या अरस्तू के अनुकरण पर बल देने से लोकोत्तर आनंद की सत्ता अस्वीकृत हो गई है? अथवा पूर्व-पश्चिम की कलामीमांसा में वास्तव में इतनी मत-विभिन्नता है कि उनमें किसी प्रकार सामंजस्य स्थापित ही नहीं किया जा सकता? अथवा क्या यह संभव नहीं है कि मनोवैज्ञानिक आधार पर अनुसंधान करने से हम दोनों मीमांसाओं को एक ही स्थान पर पाएँ?

सचमुच, यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो मनोविज्ञान ही वह आदर्श धरातल है जहाँ वर्ण, वर्ग तथा जातिभेद नहीं है—सभी एक ही

---

१. प्रसादजी—'काव्य और कला' पृ० ७

प्रकार की प्रवृत्तियों से उलझते, हँसते, खेलते और अनुप्राणित होते हैं। अतः इस संबंध में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। उसी के व्यापक प्रकाश में हम रचना के वास्तविक रूप का मनन तथा विश्लेषण कर सकते हैं, काव्य के आग्रह और प्रेरणाओं को समझ सकते हैं।

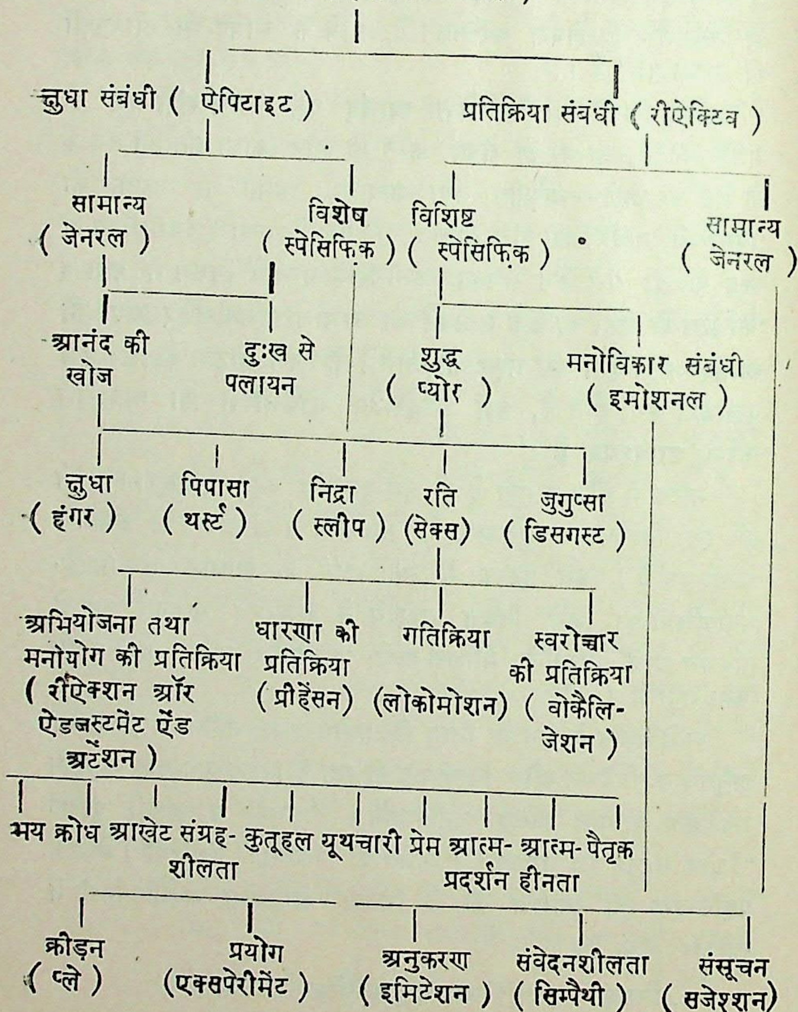
अभी तक तो हम 'लोकोत्तर आनंद' एवं 'भाव संशोधन' की शाब्दिक विभिन्नता पर ही संघर्ष करते रहे और काव्य मीमांसा तक के दो भेद कर डाले—भारतीय तथा पाश्चात्य। हमने यह समझने का प्रयास भी नहीं किया कि वास्तव में यह भेद नहीं है वरन् एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं। संभवतः इसी लिये आचार्य निकल ने कहा है 'कविता से कहीं अधिक नाटकों को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की आवश्यकता है। उस प्रश्न को जानने के लिये नाटक देखकर हम पुलकित क्यों होते हैं, हमें अर्द्धसभ्य भावनाओं का अध्ययन करना आवश्यक है।'

नाटक में कौन से गुण हैं जो हमें पुलकित करते हैं, इसका विवेचन हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाएगा कि नाटक में किन तत्वों का समावेश आवश्यक है। इस पुस्तक में मनोविज्ञान के आधार पर मानव मनोवृत्तियों का जिन्हें निकल महोदय ने अर्द्धसभ्य भावनाएँ कहा है विवेचन करके नाटक के मौलिक तत्वों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में नित्य ही प्रयोग द्वारा नवीन प्रवृत्तियों का अनुसंधान, विवेचन और विश्लेषण हो रहा है। इस बात को ध्यान में रख कर वर्तमान प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'ड्रीवर' ने अपनी पुस्तक 'Instincts in man' (मानव की जन्मजात प्रवृत्तियाँ) में एक प्रवृत्ति-वृत्त की व्याख्या की है जिसको अधिकांश मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है।

१. निकल—ऐन इंट्रोडक्शन टु ड्रैमेटिक लिटरेचर।

प्रवृत्ति-वृक्ष


अन्तः प्रेरणाएँ (इननेट टेंडेंसीज़)
क्षुधा संबंधी (ऐपिटाइट)
प्रतिक्रिया संबंधी (रीऐक्टिव)
सामान्य (जेनरल)
विशेष (स्पेसिफिक)
विशिष्ट (स्पेसिफिक)
सामान्य (जेनरल)
आनंद की खोज
दुःख से पलायन
शुद्ध (प्योर)
मनोविकार संबंधी (इमोशनल)
क्षुधा (हंगर)
पिपासा (थर्स्ट)
निद्रा (स्लीप)
रति (सेक्स)
जुगुप्सा (डिसगस्ट)
अभियोजना तथा मनोयोग की प्रतिक्रिया (रीऐक्शन ऑर ऐडजस्टमेंट ऐंड अटेंशन)
धारणा की प्रतिक्रिया (प्रीहेंसन)
गतिक्रिया (लोकोमोशन)
स्वरोच्चार की प्रतिक्रिया (वोकैलिजेशन)
भय
क्रोध
आखेट
संग्रह-शीलता
कुतूहल
यूथचारी
प्रेम
आत्म-प्रदर्शन
आत्म-हीनता
पैतृक
क्रीड़न (प्ले)
प्रयोग (एक्सपेरीमेंट)
अनुकरण (इमिटेशन)
संवेदनशीलता (सिम्पैथी)
संसूचन (सजेश्शन)

उपर्युक्त प्रवृत्तियों अथवा प्रेरणाओं में से कुतूहल तथा अनुकरण को ही साहित्य के संबंध में अधिक उपयोगी माना गया है। किंतु वैचारिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो विशेषतः नाटक काव्य के संबंध में अनुकरण तथा कुतूहल की अपेक्षा क्रीड़न, संसूचन तथा संवेदन अधिक प्रयोजनीय हैं क्योंकि इनके द्वारा लोकरंजन के अतिरिक्त हमारे मनोभावों का अनायास शोधन होता है और उन सात्विक गुणों का आविर्भाव होता है जिनके द्वारा हमें लोकोत्तर आनंद प्राप्य है। नाटक के उद्देश्य के संबंध में यह सत्य ही कहा गया है कि वह मनोरंजन और ज्ञान दोनों ही प्रदान करता है और हमारे अनुभव ने नाटक काव्य के इन विशिष्ट गुणों को सिद्ध भी किया है। वस्तुतः इन्हीं के द्वारा हम किसी नाटक के प्रति आकर्षित होकर उसको प्रेक्षण और मनन करके अपने भावों का संशोधन करते हैं और इसी अनवरत शोधन से आज हम मानव नाम को सार्थक कर रहे हैं।

यदि हमें भावशोधक रचनाएँ प्राप्त न हुई होतीं और हम केवल अपनी आदिम प्रवृत्तियों से ही अनुप्राणित होते रहते तो यह अनुमान करना भी असंभव है कि आज हमारी क्या दशा होती। कदाचित् हम भी अफ्रिका के नरभक्षकों अथवा अरब के बद्दुओं की ही भाँति केवल उदरपोषण में लगे रहते।

हमारे आचार-विचार, धर्म-नीति, संस्कृति और सभ्यता के उद्गम काव्य हैं—विशेषतः नाटक। इसलिये जीवन का प्रतिनिधित्व करनेवाले नाटक के तत्वों का अनुसंधान करना आवश्यक है और यह जानना भी अनिवार्य है कि नाटक में उन किन वस्तुओं का समावेश होना चाहिए जिनसे न केवल हमारा मनोरंजन ही हो अपितु जो हमारे हृदय पर पड़े अज्ञान के आवरण को भी हटा सकें। अस्तु, इस विषय में मनोविज्ञान ही हमारा सहायक हो सकता है। यहीं हम पूर्व और पश्चिम का एकीकरण कर सकते हैं।

हमारे साहित्य में मिथ्या आदर्शात्मकता, आडंबर और पक्षपात आ गया है जिसके कारण हम आज काव्य और कला के वास्तविक स्वरूप को भूल गए हैं और अनेक भिन्न भिन्न वादों का निर्माण कर पनपते साहित्यकारों के लिये हमने निष्प्रयोजन उलझनें उत्पन्न कर दी हैं जब कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संसार के समस्त काव्य में एक ही आत्मा, एक ही वाणी और एक ही विराट संस्कृति है।

इन्हीं कारणों से मैंने यह पुस्तक लिखने का साहस किया है।

कमलिनी मेहता

नाटक के तत्व

[मनोवैज्ञानिक अध्ययन]

नाटककला और काव्य

नाटक और रूपक

संस्कृताचार्यों के मतानुसार 'रूप' शब्द से बने 'रूपक' के अंतर्गत नाटक, प्रकरण आदि सभी अभिनेय काव्य आते हैं। किंतु नाट्यशास्त्र-प्रणेता भरतमुनि ने 'रूप' शब्द का व्यवहार केवल अभिनेय वस्तुओं की विविधता प्रदर्शित करने के उद्देश्य से किया है, अन्यथा अभिनय के अर्थ में 'नाट्य' शब्द का ही सर्वत्र प्रयोग मिलता है।[1] कवि भास के नाटकों में तो 'रूप' शब्द कहीं भी नहीं आया है। हाँ, कवि कालिदास ने अवश्य 'नाट्य' के साथ 'रूप' का भी प्रयोग किया है—यथा 'विक्रमोर्वशी' में दस वार 'रूप' तथा बारह वार 'नाट्य' का प्रयोग हुआ है, इसी प्रकार 'मालविकाग्निमित्र' तथा 'अभिज्ञान शाकुंतल' में क्रमशः दोनों का सात और बारह बार प्रयोग हुआ है।

वस्तुतः रूपक का व्यापक प्रयोग सर्वप्रथम 'दशरूप' में हुआ है जिसका रचनाकाल १०वीं शती है।[2] किंतु 'दशरूप' प्रणेता धनंजय के समसामयिक रामचंद्र ने इसको नहीं ग्रहण किया।[3] शारदातनय[4] तथा

१—वर्तयिष्याम्यहं विप्रा दशरूपविकल्पनम्।
नामतः कर्मतश्चैव तथाचैव प्रयोगतः॥
नाट्यशास्त्र—अ० १८, का० १।

२—अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् रूपम् दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समारोपाद् दशधैव रसाश्रयम्॥
दशरूप—प्र० प्रकाश, का० ७।

३—अभिनेयस्य काव्यस्य भूरिभेदभृतः कियत्।
कियतोऽपि प्रसिद्धस्य दृष्टं लक्ष्म प्रचक्ष्महे॥

४—रूपकत्वं तदारोपात्कमलारोपवन्मुखे।
दशधैवेति मुनिना तद्भेदनियमः कृतः॥
भावप्रकाशनम्—अ० ७, का० ३।

विश्वनाथ कविराज[1] ने अवश्य इसको अपनाया। संभवतः इसी आधार पर आचार्य मांकड़ ने कहा है कि १० वीं शती के पूर्व नाटक शब्द का व्यापक प्रयोग था। रूपक का प्रयोग नवीनतर है।[2] हिंदी वाङ्मय में भी नाटक का प्रयोग उसके व्यापक अर्थ में ही हुआ है। स्वयं भारतेंदुजी ने नाटक को दृश्यकाव्य का पर्यायवाची माना है।[3] हम भी इस पुस्तक में 'नाटक' शब्द का उसके व्यापक अर्थ में ही प्रयोग करेंगे।

नाटक की परिभाषा नट, नाट्य अथवा रूप शब्दों से प्रस्तुत करना केवल उसके इतिहास की ओर इंगित करना मात्र है। यहाँ इतना ही

नाटक की लोकप्रियता

कहना पर्याप्त है कि नाटक दृश्यकाव्य है[4] और काव्यरचना का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।[5] इसीलिए संस्कृत में 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' जनश्रुति की सीमा तक पहुँच गया है। आचार्य वामन ने भी 'संदर्भेषु दशरूपकं श्रेयः' (काव्यालंकार सूत्र) कहकर उपर्युक्त जनश्रुति की 'पुनरावृत्ति की है। वास्तव में इसका प्रसार इतना अधिक और परिधि इतनी व्यापक है कि भरतमुनि तथा शारदातनय के मतानुसार तो संसार में न तो कोई ऐसा ज्ञान है, न

१—नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगांकवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश।
साहित्यदर्पण—परि० ६, का० ३।

२—टाइप्स ऑव् संस्कृत ड्रामाज—श्री डी. आर. मांकड़।

३—भारतेंदु नाटकावलि—द्वितीय भाग, परिशिष्ट।

४—दृश्य श्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधामतम्।
दृश्यतत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम्॥
साहित्यदर्पण—परि०, ६ का० १।

५—काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपात्मकमेव। —अभिनव भारती।

ऐसी कला है, न शिल्प है न कर्म है, और न योग है जो नाटक में अभिनीत न किया जा सके।[१,२] निःसंदेह बिना नाटक रचना के हमारा प्रेय साहित्य नीरस हो जायगा क्योंकि यही हमारी अनुकरण तथा कारयित्री प्रेरणा को संतुष्ट करता है। यह कहना भी असंगत न होगा कि साहित्य, काव्य, संगीत, चित्र तथा शिल्पकला का समन्वय रूप नाटक इतना प्रभावोत्पादक है, उसमें सहानुभूति, शांति तथा सुश्रूषा प्रदान करने की इतनी शक्ति है और उसकी व्यापकता इतनी सार्वभौम है कि संसार की अन्य कोई भी साहित्यिक रचना इसकी समानता नहीं कर सकती। इसी लिये भरतमुनि ने इसे दुःखार्त, श्रमार्त तथा शोकार्त मनुष्यों और तपस्वियों को शांति प्रदान करनेवाला कहा है।[३]

काव्यसृष्टि के आदि काल से ही नाटक सौरभ बिखेरता आया है। कदाचित् अरब ही एक ऐसा देश है (वह भी मुसलमानी देश होने के कारण क्योंकि मुसलमानों में अनुकरण करना पाप माना जाता है) जहाँ नाटक की रचना नहीं हुई है, अन्यथा उसी के पड़ोसी फारस तथा तुर्किस्तान में (दोनों ही मुसलमानी धर्मावलंबी हैं) नाटक रचना का प्रारंभ १९वीं शती में हो चुका है।

१—न तच्छ्रुतं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥
नाट्यशास्त्र—अ० १, का० ११७।

२—नतज्ज्ञानं नतच्छिल्पं न सा विधा न सा कला।
नतत्कर्म न योगोऽसौ नाटके यन्न दृश्यते॥
भावप्रकाशनम्—७ प्रष्ठ्य अधिकार।

३—दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रांतिजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति॥
नाट्यशास्त्र—अ० १, का० ११५।

भारतवर्ष में तो ऋग्वेद के समय में ही यज्ञों के अवसरों पर अभिनय-प्रदर्शन का उल्लेख मिलता है और वाल्मीकि रामायण से तो यह सिद्ध है कि नाटकाभिनय मनोविनोद का मुख्य साधन माना जाता था।[1] इसी प्रकार महाभारत में 'रंभाभिसार' नाटक खेले जाने की कथा मिलती है। केवल यूनान, मिश्र, चीन और जापान ऐसे सभ्य देशों में ही नहीं अपितु कांगो, अलास्का, पीरू और ब्राजील ऐसे देशों की बर्बर जातियों में भी नाटक की छाया किसी न किसी रूप में मिलती है। वास्तव में बात यह है कि नाटक मानवसमाज की चेतना, उसकी विचारलहरियों और उसके सुख-दुःख की भावनाओं को अत्यंत निकट से स्पर्श करता है। इसी लिये प्रत्येक जाति ने इसे अपने विचार-प्रदर्शन का माध्यम बनाया। जो 'समाज जितना उन्नत होता है उसकी रंगशाला भी उतनी ही उन्नत होती है।'[2] यही कारण था कि जब यूनान तक में आचार्यगण नाटक का केवल बाह्य अंग पकड़ पाए थे, उसकी मीमांसा 'पोयटिक्स' तक ही पहुँचकर निश्चल हो गई थी; भारतवासियों ने नाटक मर्म का मनन करके न केवल गवेषणापूर्ण नाट्यशास्त्र की ही रचना की प्रत्युत 'अभिज्ञान शाकुंतल' ऐसा नाटक भी प्रदान किया जिसे संसार के सभी विद्वान आज भी सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

नाटक की लोकप्रियता का प्रमुख कारण

नाटक, वस्तुतः अत्यंत मनोरम, विशिष्ट एवं रहस्यपूर्ण रचना है। यह प्रत्येक जाति और देश के अंतस् को छूता है, इसका यही गुण विशेष इसकी लोकप्रियता का रहस्य है। दार्शनिक होते हुए भी जर्मन दर्शनशास्त्र प्रणेता श्लेगल इसके मनोरंजक गुण पर रीझकर कह उठे हैं 'मनुष्यमात्र को पुरुष हो अथवा स्त्री, बाल हो अथवा वृद्ध, सभ्य हो

१—बहुनाटकसंवैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम्। बालकाण्ड–१४-९।

२—डा० श्यामसुंदरदास—साहित्यालोचन।

अथवा असभ्य सभी व्यक्ति तथा समाज को नाटक प्रभावित एवं आनंदित करता है।[1] तथ्य यह है कि मानव में अनुकरण करने की सहजात प्रवृत्ति है। इसी के द्वारा बालक नित्य की शिक्षा प्राप्त करता है और प्रौढ़ावस्था में यही प्रवृत्ति विवेचनात्मक तथा आदर्शात्मक रूप में परिवर्तित होकर मनुष्य को विधायक का गुण प्रदान करती है। 'अनुकरण प्रथमतः पार्थिव, तदनंतर विकल्पात्मक होता है और वस्तुतः यही अनुकरण व्यक्तित्व प्रदर्शन का मौलिक साधन है।'[2] अनुकरण द्वारा ही हम अपनी जाति की पूर्व संचित संस्कृति का उपयोग करते हैं। वस्तुतः 'मानवसमाज ने अनुकरण तथा अन्वेषण के चरणों पर ही चलना सीखा है।'[3] सभी बालक जीवन से तत्व लेकर नवीन तत्वों का निर्माण करते हैं। यही स्वेच्छाप्रणीत तत्व निर्माण कारयित्री शक्ति का मूल हेतु है। नाटक इसी अनुकरण और कारयित्री शक्ति द्वारा हमको हमारी ही रहस्यजनित क्रियाओं, विवशताओं तथा तज्जनित विफलताओं से परिचित कराते हुए सावधान कर देता है और हम यह सोचने लगते हैं कि अमुक क्रिया अथवा भाव के तल में क्या भेद निहित है।

नाटक और कला

अब प्रश्न यह उठता है कि नाटक हम कहते किसे हैं अथवा उसके लक्ष्य और उद्देश्य क्या हैं? किंतु इस जटिल प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व हमें यह निश्चय कर लेना आवश्यक है कि क्या काव्य कला का एक रूप है अथवा उससे सर्वतः भिन्न है। भरतमुनि[4] तथा

१—लेक्चर्स आन ड्रैमेटिक आर्ट एण्ड लिटरेचर।—श्लेगल।

२—सर टी० पी० नन—एजुकेशन इट्स डेटा एण्ड फर्स्ट प्रिंसिपल।

३—विलियम जेम्स—द प्रिंसिपल्स आव् साईकालोजी।

४—नतज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नाट्यशास्त्र—अ० १, का० ११७।

अभिनवगुप्त[1] के कथनों से यह ज्ञान पड़ता है कि संभवतः दोनों ने कला को काव्य से पृथक माना है। कवि दण्डी नृत्य गीतादि को ही कला के अंतर्गत मानते हैं।[2] तथा भामह ने तो कला को काव्य का एक विषय मात्र कहा है। इसमें संदेह नहीं है कि संस्कृत आचार्यों में काव्य से कला को पृथक् मानने की एक प्रथा सी दिखाई देती है। संभवतः इसी आधार पर प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के पुजारी प्रसाद जी भी यह कह पड़े हैं कि 'भारतीय ज्ञान दो प्रधान भागों में विभक्त था—काव्य की गणना विद्या में और कला का वर्गीकरण उपविद्या में था...कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारों में लिया जाता है वैसा भारतीय दृष्टिकोण में नहीं।'[3] किंतु कुछ संस्कृत विद्वानों ने कला के विषय में कहा है कि कतृशक्ति की व्यंजना जिसके द्वारा हो वही कला है।[4] इस दृष्टि से तो काव्य भी कला है क्योंकि वह कारयित्री शक्ति का प्रदर्शन है और क्षेमराज ने तो वस्तु चित्रण करने को कला व्यापार कहा भी है।[5] काव्य और कला के इस अनिर्णीत झगड़े से छुटकारा पाने के हेतु अंत में 'प्रसाद जी' को भी यह कहना पड़ा कि 'अनुभूति और अभिव्यक्ति के अंतरालवर्ती संबंध को जोड़ने के लिये हम चाहें तो कला का नाम ले सकते हैं।'[6] पाश्चात्य विचारधारा भी तो इसी मत की पुष्टि करती है। उनका भी यही मत है कि जिस प्रकार चित्रकार

१—'कला गीत वाद्यादिका'—अभिनव भारती

२—नृत्य गीत प्रभृतयः कलाकामार्थसंश्रयाः-(३-१६२) काव्यादर्श।
उद्धृत 'काव्य और कला' से पृष्ठ १२।

३,६—'काव्य और कला' पृ० ४-५ तथा १६।

४—व्यञ्जयति कर्तृशक्तिं कलेति तेनेह कथिता सा।-(भोजराज)तत्व प्रकाश।
'काव्य और कला' से उद्धृत पृ० १५।

५—कलयति स्व स्वरूपावेशेन तत्तद्वस्तु परिच्छिनत्ति इति कला व्यापारः।
-शिवसूत्रविमर्शिनी। 'काव्य और कला' से उद्धृत पृ० १५।

अथवा शिल्पकार वस्तु का निरूपण करता है उसी प्रकार काव्यकार भी। माध्यम भिन्न अवश्य है। अतः यह स्पष्ट है कि काव्य भी एक कला है, और यह सर्वतः मान्य है कि नाटक काव्य का ही एक विशिष्ट अंग है।[1] अतएव नाटक के रूप आदि का विवेचन करने से पूर्व कला की परिधि, लक्ष्य तथा रूप का ज्ञान होना आवश्यक है।

कला की व्याख्या करते हुए प्रसिद्ध दार्शनिक क्रास ने कहा है 'उत्कृष्ट रूप में कला जीवनसंबंधी वह कला है जिसके द्वारा सुसंस्कृत मनुष्य का निर्माण होता है।'

कला का विवेचन

यह परिभाषा कला और जीवन में संबंध स्थापित करती है। अतः यदि हम कला की परिभाषा इस प्रकार दें कि कला मानव मात्र के लिये सौंदर्य कणों का संग्रह करती है तो अनुचित न होगा। वास्तव में 'कला का लक्ष्य सौंदर्य है और संसार में सौंदर्य की उत्पत्ति इसी लिये हुई है कि मानव को आनंद प्रदान करे। कलाजनित आनंद इसी लिये श्रेय है क्योंकि वह सुखद है।[2] कला जगत तथा मानवात्मा के उन छिपे सौंदर्य कणों का दिग्दर्शन कराती है जो प्रत्यक्ष तो होते हैं किंतु जिसे कलाकार की सी ऐंद्रजालिक दृष्टि न होने के कारण हम देख नहीं पाते।

इसमें संदेह नहीं कि कला सौंदर्योत्पादक है। और सौंदर्य वह है जिसे देखकर हमारा हृदय आनंदविभोर हो उठता है। वह हमें

१—दृश्य श्रव्यत्व भेदेन पुनः काव्यं द्विधामतम्।
दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तुरूपकम्॥

साहित्यदर्पण—परि० ६, का० १।

२—काउंट ज़ियो ताल्सताय—आन आर्ट।

ऐसे स्वर्ग में ले ज़ाकर बिठा देता है, ऐसे भाव प्रदान करता है कि जिससे प्रभावित होकर हममें सत् असत्, शुभ अशुभ, भूत भविष्यत्—सभी का ज्ञान लुप्त हो जाता है। वास्तव

कला और सौंदर्य

में यदि हम नाना प्रकार की कला वस्तुओं को एकत्र करके निरीक्षण करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि कला अस्पष्ट को स्पष्ट, अलक्ष्य को लक्ष्य, परोक्ष को प्रत्यक्ष, आंतरिक को बाह्य और मानसिक एवं हार्दिक को मूर्तमान करके सुव्यवस्थित तथा परिपक्व रूप में रख देती है। हमारे ही जीवन के कण बीनकर, हमारे ही संमुख प्रकृति के आँचल में बैठकर कलाकार एक सुंदर वस्तु का उसी प्रकार निर्माण कर देता है जिस प्रकार कुंभकार मिट्टी से घट का। प्रभात की किरणें हमारे जीवन में नित्य ही आती हैं, उनमें कोई असाधारणता नहीं दीख पड़ती, किंतु जब उसी का निरूपण कलाकार यह कह कर करता है—

शतशत चुम्बन-मधु से स्नाता
नवनीत स्निग्ध रसगंधवती चल पुलक-लता सी अज्ञाता।
यह दिवा-स्वप्न सी मदन-धन्य
लज्जा सी मोहक मृदु अनन्य
शुचि रूप-बेलि सी चपल वन्य
मद सुरभि-रभस विधुरातुर सी आई ऊषा की सहजाता।

तो हृदय पुलकित हो उठता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि सौंदर्य स्वयं क्या वस्तु है। इसकी संतोषप्रद परिभाषा देना कठिन ही क्या असंभव है। सुंदरता गुण है, जिसका अनुभव किया जा सकता है, किंतु

सौंदर्य का रूप

विवेचन नहीं। इसी लिये दार्शनिकों ने अपने वैयक्तिक अनुभव के आधार पर जटिल व्याख्याएँ की हैं। सुप्रसिद्ध दार्शनिक कैंट के शब्दों में 'अनुभव रूप में

सौंदर्य वह भाव है जो मनुष्य को लोकोत्तर आनंद प्रदान करे और तत्व रूप में वह वस्तु है जो इस प्रकार के भाव का आरोप करे।'[1] इससे यह आशय निकलता है कि सुंदर वस्तु की सुंदरता वह गुण है जो दर्शक के हृदय में आनंद की सृष्टि करे। उदाहरणतः जिस किसी ने धुली चाँदनी में ताजमहल देखा है वह निःसंकोच कह सकता है कि उसके समीप पहुँचते ही हृदय नाच उठता है, भव्य भावों से भर उठता है और यही जी चाहता है कि संपूर्ण जीवन उन्हीं मौलसिरी के वृक्षों के नीचे खड़े होकर काट दें। साधारणतः यही मंत्र-विमुग्धकारी गुण प्रत्येक कला में होता है। किंतु प्रश्न तब भी यही रह जाता है कि हम किसी वस्तु अथवा भावप्रदर्शन से पुलकित होते ही क्यों हैं? मनोवैज्ञानिक तो यह कहकर छुट्टी पा जाते हैं कि सौंदर्याकर्षण एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। किंतु दार्शनिकों का कथन है कि 'परमात्मा सौंदर्य के रूप में ही आत्मा तथा प्रकृति में प्रतिबिंबित होता है। सौंदर्य वही कण है जो आत्मा को पंचतत्वों से पृथक् करके आलोकित करता है।[2] इस धारणा से भारतवर्ष भी अपरिचित नहीं है क्योंकि हम भी सौंदर्य को परमात्मा के त्रिगुणों[3] में मानते हैं। यदि यह विचार तथ्यारूढ़ है तब तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सुंदर वस्तु अथवा आत्मा में परमात्मा के पुनीत कण देखे जाते हैं और यही कारण है कि हम उन्हें पाकर आनंदमग्न हो जाते हैं। वास्तव में 'सीमित में असीम का बोध ही सौंदर्यानुभूति है और कला का मुख्य गुण है कलावस्तु में अवचेतन रूप में अनंतता का भाव लाना।'[4]

उपर्युक्त अवतरणों से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी भी

१—कैंट।

२—हीगल।

३—सत्यं, शिवं, सुंदरम्।

४—शिलर

सुंदर वस्तु में आनंदप्रदायिनी शक्ति तथा अलौकिकता का भाव होना आवश्यक है। और यह तभी संभव है जब कि सौंदर्य द्वारा विभिन्नता में एकता, स्वरविषमता में समस्वरता तथा भीषण कोलाहल में शांति की स्थापना हो। वास्तव में सौंदर्यबोध ही जीवन की परमोपयोगी संजीवनी है। जब तक मनुष्य सौंदर्य का आस्वादन नहीं कर लेता, तब तक उसकी उदात्त भावनाएँ जागरित ही नहीं हो पातीं। फिर भी

सौंदर्य में आनंद-प्रदायिनी शक्ति और अलौकिकता

'प्रसाद जी' ने सौंदर्य को काव्यलोक से यह कहकर पृथक् कर दिया है कि उसका बोध एवं प्रतिपादन पाश्चात्य है और हमारे यहाँ कला का आधार आनंद है न कि सौंदर्य। उन्हीं के शब्दों में 'ग्रीस द्वारा प्रचलित पश्चिमी सौंदर्यानुभूति बाह्य को, मूर्त को, विशेषता देकर उसकी सीमा में ही उसे पूर्ण बनाने की चेष्टा करती है और भारतीय विचारधारा ज्ञानात्मक होने के कारण मूर्त और अमूर्त का भेद हटाते हुए बाह्य और आभ्यंतर का एकीकरण करने का प्रयत्न करती है।' जब यह अमूर्त के साथ सौंदर्य शास्त्र का संबंध ठहराती है, तो दुर्बलता में ग्रस्त होने के कारण अपने को स्पष्ट नहीं कर पाती।···श्रेय, आत्म-कल्याण-कल्पना अधूरी रह जाती है।'[1] पाश्चात्य सौंदर्यभावना पर 'प्रसाद जी' ने जो प्रहार किया है उस पर कोई विवाद किए बिना ही इतना कह देना आवश्यक है कि पाश्चात्य विचारधारा में भी कला का लक्ष्य आनंद है। रसानंद तथा सौंदर्य और आनंद में जो विभिन्नता है, वह साधन और साध्य की है।

'कला मनुष्य की वह क्रियाशीलता है जिसके द्वारा कलाकार अपने भावों को दूसरे तक इस रूप में पहुँचाने' में समर्थ होता है कि वे लोग

१—काव्य और कला – पृष्ठ ९-१०।

भी उसी भाव में डूब उठें, और मनुष्य वैयक्तिक तथा स्वार्थप्रियता के बंधन से मुक्त होकर सर्वव्यापकता की ओर अग्रसर हो।'[1] इस परिस्थिति में तो कलाकार बिना सौंदर्य बिना ऐसी वस्तु का साधन पाए अपने चित्र को हृदयग्राही बनाने के प्रयास में कैसे सफल हो सकता है ? सौंदर्य ही उसकी कलाकृतियों को आकर्षण प्रदान करता है और उन्हें जटिल एवं नीरस सिद्धांतों से पृथक् करता है। कलाकार किसी वस्तु, भाव अथवा परिस्थिति के सौंदर्य से प्रभावित होता है और उसी भावावेश में अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा प्रतिच्छाया बनाकर सौंदर्य विधायक का नाम सार्थक करता है।

कला सौंदर्य की अभिन्नता

निःसंदेह सौंदर्य का आस्वादन करने के पाश्चात् कोई भी सच्चा कलाकार उसे अभिव्यक्त किए बिना नहीं रह सकेगा। यह एक ठोस मनोवैज्ञानिक सिद्धांत है जिसे संसार की आदि कलाकृतियाँ सिद्ध करती हैं।

यूथचारी प्रवृत्ति और अभिव्यंजना

मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार मानव में यूथचारी प्रवृत्ति होती है जिससे प्रेरित होकर वह समाज में मिलता है और तदनुरूप आचार-व्यवहार करता है। यही यूथचारी प्रवृत्ति मानवसमाज की आधार होती है।[2] प्रत्येक व्यक्ति न केवल अपने पड़ोसी के भावानुभाव के आस्वादन का इच्छुक होता है वरन् इस बात के लिये भी आतुर रहता है कि उसके पार्श्ववर्ती भी उसके भावानुभाव से प्रभावित हों।[3] सारांशतः क्रियाशील सहानुभूति यूथचारी प्रवृत्ति का गुणनफल है जिसका मुख्य लक्ष्य यह है कि किसी भी मनुष्य को तब तक संतोष नहीं होता जब तक अपने समीपवर्तियों में अपना सा भाव न उत्पन्न कर ले। इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर

१, २—रास—एजुकेशनल साईकालोजी।

३—डंविल—फंडामेंटल्स ऑव् साईकालोजी।

निरीह मानव अपनी शैशवास्था में ही अपने मनःक्षोभों को अभिव्यक्त करने को आतुर हो उठा। अपने अंतस् में उठनेवाले भय, विस्मय आदि के अस्पष्ट भाव, छाया तथा अंधकार से कँपा देनेवाला अनुभव, दुःखजनित मनोव्यथा, साथ ही गिरिश्रृंगों की उच्चता, नदियों का कलकल, वसंत की सुषमा, पक्षियों का कलरव, समुद्र की उछलती ऊर्मियों का चापल्य—सभी को व्यक्त करने को तड़प उठा। प्रथमतः तूलिका ग्रहण की जिसके जर्जर अवशेष आज भी प्राचीन गुफाओं में बिखरे पड़े हैं। किंतु तूलिका द्वारा वह अपनी कोमल भावनाओं को, निसर्ग की विराट् शक्तियों को, एवं आश्चर्य, कुतूहल तथा भयजनित घातों और प्रत्याघातों को प्रकट करने में विफल रहा, तब उसने वाणी का माध्यम ग्रहण किया जो समयानंतर तालयुक्त नृत्त और नृत्य से संयुक्त होकर काव्य बन गई।

भावोद्रेक और काव्य

भावोद्रेक के ही वशीभूत होकर काव्यरचना होती है जिसके ज्वलंत प्रमाण आदि कवि वाल्मीकि हैं। व्याध द्वारा क्रौंच के मारे जाने पर क्रौंची की करुण, व्यथित मूर्ति से प्रभावित होकर उन्होंने व्याध को जो शाप दिया वह पद्यमय था।[1] तभी से काव्यरचना का श्रीगणेश हुआ। इसी ओर आनंदवर्धन ने भी संकेत किया है[2] और इसी तथ्य की पुष्टि महाकवि कालिदास ने भी की है।[3]

१—मा निषाद प्रतिष्ठांत्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

२—काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः, शोकः श्लोकत्वमागतः॥ ध्वन्यालोक-अ० १, का० ५।

३—निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः।
रघुवंश—अ० १४, श्लो० ७०।

सारांशतः कला अभिव्यक्ति की शक्ति मानव को मानव होने के नाते मिली क्योंकि मनन शक्ति, मनन से गृहीत निर्वचन करने की वाक्शक्ति और इनके सामंजस्य को स्थिर करनेवाली प्राणशक्ति—तीनों आत्मा की मौलिक क्रियायें हैं।[1] अतएव मानव अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने को प्रेरित हुआ। फिर ज्यों ज्यों सभ्यता आगे बढ़ती गई, उसमें धर्म और ज्ञान संबंधी विचारों का भी प्रादुर्भाव हुआ और उसने निरुद्देश्य अभिव्यक्ति के साथ शिक्षा, उपदेश, ज्ञान तथा धर्म सिद्धांतों का भी नाता जोड़ा। तदनंतर ज्यों ज्यों जीवन साधारण से जटिल होता गया, प्राचीनता छोड़कर नवीनता धारण करता गया, मनुष्य की आकांक्षायें तथा भावनायें द्विगुणित होती गईं, फलतः उसी परिमाण में उसके प्रदर्शन की विधियाँ बढ़ती एवं रूपांतरित होती गईं। उनमें मधुरता, करुणा, सुष्ठुता एवं गुरुता आती गई और ये ही अभिव्यक्तियाँ कलाकृतियों के नाम से प्रख्यात हुईं।

कला का प्रवाह

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि सौंदर्य से संबंधित होने के कारण कला तथा काव्य का जीवन से घनिष्ठतम संपर्क है। जीवन उस व्यापक अर्थ में जिसकी परिधि में जीव, परिस्थिति, प्रकृति आदि सभी आ जाते हैं। 'कला का यही कर्तव्य है कि मानव जीवन के आवश्यक अंगों को चित्रित करके उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षितकर उसे सचेत कर दे।[2] कला का क्षेत्र जीवन है अतः जीवन को छोड़ वह और किस वस्तु की अभिव्यंजना करेगी ? जिस वस्तु को कलाकार ने देखा ही न हो, चेतन अथवा अवचेतन अवस्था में उसके मानस पटल पर आई ही न हो, तो वह उसका प्रदर्शन कर ही

कला और जीवन

१—अयमात्मा वाङ्मयः मनोमयः प्राणमयः।—बृहदारण्यक।

२—गाल्सवर्दी – सम प्लेटीट्यूड्स ऑव् ड्रामा।

कैसे सकेगा ? यदि करेगा भी तो उसकी कलाकृति सत्य विमुख होगी। केवल कल्पना के ईंट गारे का प्रासाद कल्पना ही के लोक में देखा जा सकता है। सौंदर्यास्वादन तथा गुणों की पुनरावृत्ति करके कलाकार अपनी कलाप्रतिभा द्वारा सौंदर्य का पुनर्निमाण करता है किंतु आधार स्वरूप वस्तु का होना अनिवार्य है। 'प्रकृति ही आत्मिक सौंदर्य की आधार भूमि है।'[1] अतः कलाकार की दृष्टि वास्तविकता ही पर रहती है, वह जीवन ही को चित्रित करता है। 'संगीतकार, चित्रकार एवं शिल्पकार की भाँति काव्यकार भी अपने आंतरिक भावों का निरूपण करता है, किंतु वह शब्द, संगीत, ध्वनि तथा नृत्य को माध्यम बनाकर मानव के व्यक्तित्व, क्रिया एवं अनुभव का ही नव-निर्माण करके संसार के संमुख प्रस्तुत करता है।'[2] जीवन से भागकर कला अपने लक्ष्य से विमुख हो जायगी। वह 'अपना अस्तित्व जीवन में विलीनकर जब तक तदाकार हो नहीं जाती, तब तक उसके मूर्त हाथ सत्य की ज्वाला को नहीं पकड़ पाते। सर्वोच्च कलाकार वही है जो कला के कृत्रिम पट में जीवन की निर्जीव प्रकृतियों के निर्माण करने के बदले अस्थि मांस की इन सजीव प्रतिमाओं में अपने हृदय से सत्य की साँसें भरता है, उन्हें संपूर्णता प्रदान करता है, उनके हृदय प्रदीप को जीवन के प्रेम से दीप्त करता है।'[3]

कला और यथातथ्य निरूपण

किंतु इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि कलाकार जीवन को ज्यों का त्यों चित्रित करता है। वास्तव में कला तो जीवन की सरसता, भावुकता, गहनता, मार्मिकता, अनुभूति और संवेदना तथा उनके व्यक्तीकरण, विश्लेषण तथा मनोवैज्ञानिक चित्रण का क्षेत्र है। कलावस्तु संपूर्ण जीवन की नहीं वरन्

१—हीगल।
२—लेन कूपर की अरिस्टाटल की पोयटिक्स पर टीका।
३—सुमित्रानंदन पंत—'ज्योत्स्ना' के एक पात्र एल्फ्रेड के मुख से।

उसके सार की छवि है। इसी लिये आदि से ही कला वैयक्तिक एवं व्यापक, सामान्य तथा असामान्य दोनों रही है। कलाकार सदा से चयन करता आया है अन्यथा उसकी कृतियाँ सौंदर्य की प्रतिमा न होकर यंत्र द्वारा खचित नीरस तथा शुष्क चित्र होतीं।

प्रकृतिवाद का विवेचन

लगभग पचास-साठ वर्ष पूर्व यूरोप में 'कला, कला के लिये' का तुमुल नारा उठा था। उसके पक्षपातियों का मत था कि 'कला को नकेल, हथकड़ी अथवा मुखबंध से क्या सरोकार? वह तो दर्शक को उस मनोरम सुविशाल उपवन में ले जाकर छोड़ देती है, जहाँ किसी प्रकार का फल खाने का न तो निषेध है, न स्वच्छंद विचरने में कोई बाधा।'[1] ऐसे ही विचार कुछ भारतीय साहित्यिकों के भी हैं जैसे मिश्रबंधुओं का कथन कि 'चित्रकार जिस प्रकार पुनीत जाह्नवी का चित्र खींचता है उसी प्रकार भयावह श्मसान का। उपयोगितावाद के चक्कर में पड़कर ललित कला का सौंदर्य नष्ट करना ठीक नहीं है।'[2] अस्तु, प्रकृतिवादियों के विचार से कलावस्तु रुचिकर प्रतीत होती है तो इसलिये नहीं कि वह सदाचार प्रवर्तक है वरन् इसलिये कि वह सुंदर है। वह ऐसी वस्तु है जिसका सुखद ज्ञान केवल देखने से हो जाता है।

आदर्शवादी मत

किंतु आदर्शवादियों का मत इससे भिन्न था। वे अरस्तू की शपथें खा खाकर कहते थे कि कला का ध्येय मनुष्य को लोकोत्तर आनंद प्रदान करता है। अतः कलावस्तु सुंदर होने के नाते सत्यविमुख नहीं हो सकती। सत्य और सौंदर्य का संबंध नारी और पुरुष, शक्ति और स्नेह का है। उनका कथन था कि 'हमारा

१—विक्टर ह्यूगो—मैग्नाचार्टा आव् पोएट्री (प्रीफेस टु लेस ओरिऐंटल प्रेस १८२६)।

२—मिश्रबंधु विनोद से।

विचार है और संसार की प्रत्येक उन्नत भाषा इसकी साक्षी भी है कि सत्य, शुभ और सुंदर तीनों गुण एक ही हैं। बड़ी कठिनाई से तीनों में विभेद किया जा सकता है। वास्तव में यदि हमें ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास है तो निःसंकोच मानना पड़ेगा कि तीनों गुण एक हैं, क्योंकि तीनों एक ही परमात्मा के रूप हैं।[1] बाबू श्यामसुंदर दास जी भी उपर्युक्त कथन का इन शब्दों में समर्थन करते हैं, 'आचार और नीति के विरोध तथा उनकी उपेक्षा या उनके अभाव से कविता की अंगपुष्टि नहीं हो सकती। क्योंकि सदाचार और नीति की बातें जीवन से भिन्न नहीं हो सकती।'[2]

स्वांतःसुखाय भ्रमोत्पादक

इतना अवश्य है कि यदि काव्य अथवा अन्य कला में हम पारलौकिकता का पुट होना मानते हैं तो उसका सत्य, शुभ और सुंदर होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यदि कला मीमांसा का यह सिद्धांत सत्य है, तब तो हम यह भी देखने को बाध्य हैं कि हमारी कृतियों में सत्य की झलक है भी या नहीं, वह शुभ है या नहीं? और इसी व्यापक परिधि में शील, विचार आदि सभी आ जाते हैं। 'कला पदार्थ का मूल्य धार्मिकभावना से आँका जाता है—धर्म वह जो जीवन के उच्चतम अर्थ को समझे और अर्थ वह जो आत्मा को परमात्मा से तथा मनुष्य को दूसरे मनुष्य से संबंधित करे।'[3] उपनिषदों में भी कहा है 'सत्यं स्वाध्याय प्रवचने च।' तथ्य तो यह है कि 'कला केवल कला के लिये' वाला सिद्धांत अंशतः सत्य होता हुआ भी भ्रमोत्पादक है। तभी चेस्टरटन

१—पर्सी डियर्नर—द नेकेसिटी ऑव् आर्ट।

२—डा० श्यामसुंदर दास—साहित्यालोचन।

३—काउंट लियो तालसताय—आन आर्ट।

को कहना पड़ा कि 'कला केवल कला के लिये, अनुभूति केवल अनुभूति के लिये, है तो ठीक, किंतु कला का प्रेम कला के लिये, अनुभूति का प्रेम केवल अनुभूति के लिये, बहुधा कुरूपता एवं अनाचार में ही समाप्त होता है।'[१] संभवतः यही कारण है कि भारतीय आचार्यों ने 'अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की प्राप्ति में ही काव्य की सार्थकता बतलाई है।'[२]

किंतु यह भी सत्य है कि कलाकार किसी उद्देश्य को संमुख रखकर ही रचना नहीं करता। कला तो वास्तव में स्वच्छंद तथा मुक्त जीवन की अपेक्षा करती है। किसी सुंदर वस्तु पर दृष्टि जाते ही हृदय अनायास आकर्षित हो जाता है, हम स्वभावतः पुलकित हो उठते हैं, एक उदास भावना जाग उठती है। परोक्ष रूप में भले ही उससे नैतिक ज्ञान मिले पर प्रत्यक्ष रूप में कदापि प्राप्त न होगा। दृश्य काव्य के संबंध में, अभिनव गुप्त ने भी यही कहा है कि अमुक देश में, अमुक काल में, शुभ कर्म से शुभ-फल, अशुभ कर्म से अशुभ फल मिलेगा, नाटक कभी ऐसा उपदेश नहीं देता।[3] वास्तव में प्रेक्षक स्वयं ही शुभाशुभ कर्म का फल निकाल लेता है। कलाकार न तो उपदेशक है, न नीतिप्रवर्तक, न इतिहासज्ञ और न शास्त्रज्ञ ही। संभव है कि उसकी कृति उपयोगी हो और यह भी संभव है कि उसमें प्रत्यक्ष कोई उपयोगिता न हो। 'वह तो कृषि होता है जो लोगों को उस आदर्शमय जगत को दिखा देता है

कला और नीति-शिक्षा

१—एसेज बाई डब्लू. के. चेस्टरटन।

२—धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥—दशरूप, प्र० प्रकाश।

३—अस्मिन् देशेऽस्मिन् काले ईदृशेन कर्मणा यः शुभमशुभं चार्जयति स एवंविध फलभागी भवतीति न तावदिहोपदिश्यते।
—अभिनव भारती, पृ० ३९

जिसे वे संभवतः जानते और पहचानते हैं। किंतु बिना उसकी देववाणी सुने उनका ध्यान ही उस ओर आकर्षित नहीं होता।'[1] वह विहग की नाईं ऊँचे उड़कर, हमारी शक्ति और विवशता का विवेचन करके, हमारे जीवन के कठोर सत्य का मनन करके एक अनंत तथा लोकोत्तर गीत का सुर भरता है। वस्तुतः 'जब तक साहित्यकार अपनी सीमा को पार कर, अपने सुख दुःख से ऊँचे उठकर, संसार में जो कुछ है पाप-पुण्य, सदाचार दुराचार, धर्म अधर्म, विष अमृत सबको समझ नहीं लेता, सबका अनुभव नहीं कर लेता तब तक उसे विश्वव्यापी और सनातन आधार मिल नहीं पाता।'[2] जब इस प्रकार की अग्नि में तपी तपाई आत्मा कलावस्तु का निर्माण करने बैठेगी, तो वस्तु स्वयं सदाचारप्रवर्तक होगी। कलाकार की वाणी में ओज, आत्मिक द्वंद्व को समाप्त करने की शक्ति, सत्य के प्रति आग्रह और जनता जनार्दन तक पहुँचने की आकांक्षा है–सभी साधन तो प्राप्त हैं उसे। एक एक शब्द उसका पीयूषवर्षी होगा, इसीलिए तो काव्य ज्ञान को 'कांता सम्मित' कहा है। वास्तव में 'आध्यात्मिक विचारों से कलाकार को कोई सरोकार नहीं है, उसका संबंध आदि से अंत तक मानव की आत्मा है। आध्यात्मिकता के विचार उसके मस्तिष्क में तभी आते हैं जब कि पात्रों के चरित्र विकास में उनका प्रभाव देखता है।'[3]

कला का शाब्दिक रूप काव्य है और यह पहले ही कहा जा चुका है कि अभिव्यक्ति की परंपरा में शब्दों का माध्यम संभवतः अंत में ग्रहण किया गया और वह भी इस कारण कि उन्हीं के द्वारा कोमल तथा करुण भावनाओं का प्रदर्शन संभव हो सका। इसीलिए काव्य में

१—मार्शल्–ऐस्थेटिक प्रिंसिपुल्स्।

२—लक्ष्मीनारायण मिश्र—भूमिका 'मुक्ति का रहस्य' पृ० १२।

३—वूडब्रिज—द ड्रामा, इट्स लॉ ऐंड टेकनिक।

कला की सर्वोत्कृष्टता मानी गई है और उसकी सर्वोच्चता का कारण है स्थूल तत्व का सूक्ष्म प्रयोग। यों तो शब्दों में भी वर्णमाला व्यवहार में लाई जाती है और संभवतः आदि काल में शब्द की भी चित्रलिपि होती हो तथा ज्ञान और सभ्यता के विकास के साथ शब्दों का स्थान अक्षरों ने और चित्रों का स्थान ध्वनि ने ग्रहण किया हो। किंतु यहाँ वर्णमाला विकास के इतिहास के पृष्ठ उलटने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं है, हमको तो केवल यह कहना है कि हमारा प्रत्येक शब्द केंद्रीभूत भावों का प्रतीक है। अतः तुलनात्मक दृष्टि से शब्द अन्य माध्यमों से सूक्ष्मतर तथा अधिक रमणीय प्रतीत होते हैं। उनमें गरिमा तथा तरलता दोनों है और यही कारण है कि प्रत्येक शब्द के अंतराल में विचारों की एक अविच्छिन्न धारा बहती आ रही है जिसने ध्वनिकारों की अभिधा, व्यंजना तथा लक्षणा शक्तियों को जन्म दिया है। 'किसी भी भाषा के शब्द मस्तिष्क की सफल क्रियाशीलता के उदाहरण हैं, क्योंकि प्रत्येक का निर्माण अथवा रूपीकरण बिना व्यक्तिविशेष अथवा व्यक्तिसमूह के अंतर्बोध और ज्ञानसंचय के संभव नहीं है।'[1] वास्तव में एक एक शब्द असंख्य विचारों का समुच्चय है और उनसे बनी भाषा समाज की समुन्नति के परिमाण में सजीव तथा व्यंजक होती है। मनोवैज्ञानिकों का कथन भी है कि 'सभ्यता का विकास और भाषा सहगामी हैं'[2] और उसके प्रत्येक शब्द सतत व्यवहार से अधिकाधिक सार्थक तथा व्यापक होते जाते हैं। भाव संसार में शब्द इतने प्रतिष्ठित हैं कि कितने ही मनोवैज्ञानिकों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि 'हमारी

कला और काव्य

१—मैक्डूगल-प्रिंसिपुल्स ऑव साईकालोजी।

२—डंविल-फंडामेंटल्स आव् साईकालोजी।

बुद्धिप्रखरता शब्दभांडार द्वारा आँकी जाती है।'[1] संभवतः इस कारण से कि मनन और प्रवचन दोनों ही के साधक शब्द हैं। संक्षेप में यदि कला का यह लक्ष्य है कि वह जड़ता से चैतन्य, शरीर से आत्मा तथा रूप से भाव की ओर मानवमात्र को अग्रसर करे, तो शाब्दिक प्रदर्शन ही कला की चरम सीमा हो सकती है। यही कारण है कि भारतीय विद्वानों ने प्रभावपूर्ण काव्य दुर्लभ माना है।[2]

कला के संबंध में मतविभिन्नता

काव्य के रूप आदि के विषय में बड़ा मतभेद दिखाई देता है। न केवल पूर्व और पश्चिम में या प्राचीन और अर्वाचीन में ही अपितु प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक समय में विविध मत प्रकट होते आए हैं। किसी ने काव्य को रसात्मक काव्य[3] माना तो किसी ने सालंकारता[4] को, किसी ने रमणीयता प्रतिपादक शब्द को[5] तो किसी ने 'दोषरहित शब्द और अर्थ'[6] को ही काव्य का रूप' बताया। तात्पर्य यह कि काव्य की कोई निश्चित परिभाषा प्रस्तुत करना अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि काव्य मानव की वह चेष्टा है जिसके द्वारा वह रसमग्न होकर लोकोत्तर आनंद प्राप्त करता है। रस उसकी आत्मा है और यही उसे शास्त्रों से विलग

१—मोरगन एंड गिलिलैंड-एक्सपेरिमेंट इन इंटेलिजेंस टेस्टिंग।

२—नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥—अग्निपुराण।

३—वाक्यं रसात्मकं काव्यं।—साहित्यदर्पण।

४—काव्यम् ग्राह्यमलंकारात्; सौन्दर्यमलंकारः।

५—रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।—पंडितराज जगन्नाथ।

६—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।—मम्मट।

करता है। 'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है।......प्रकाश की किरणों के समान भिन्न भिन्न संस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुंदर और ऊर्जस्वित बनाती है।'[1] 'हमारे जीवन की लोल लहरों में मृत्यु की विभीषिका सदा विष के बिंदु टपकाया करती है। काव्य इन्हीं विषबिंदुओं को अपनी रहस्यमयी रसायन क्रिया से स्वर्णकणों में परिणत करता रहता है और हमारे आलोक पर पड़े साधारणता के आवरण को हटाकर हमें वास्तविक आत्मा के नग्न सौंदर्य का दर्शन करा देता है।'[2] इस क्रियाशीलता की विधियाँ उतनी ही भिन्न हैं जितने कि उसके साधन। इस कारण उपनिषदों तक में कवियों को ऋषि कहा गया है।[3]

कला एवं काव्य की आवश्यकता

कला तथा काव्य की मानव को नितांत आवश्यकता है। सुशिक्षित सामाजिकता के लिये हमारी आदि प्रवृत्तियों का निरोध, कम से कम उनका ऊर्जस्वित होना परमावश्यक है। और कला सदा से यही करती आई है तथा करती रहेगी। रोम्याँ रोला के शब्दों में 'कला की चरम सीमा कल्पना के साथ नहीं जीवन के साथ है।' और यह तभी जीवन से संपर्कित हो सकती है जब तक जीवन के मौलिक सिद्धांतों का व्यतिक्रमण न करे। उसकी सफलता जीवन से विरोध नहीं सान्निध्य करने में है। काव्य और कला ने सभ्यता के विकास में, संस्कृति की समुन्नति में मानव को मानव

१—प्रसाद—काव्य और कला, पृ० ११।

२—शैली—इन् डिफेंस आव् पोएट्री।

३—तदेतत् सत्यं मंत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायाम् बहुधा सन्ततानि।—प्रसाद, 'काव्य और कला' से उद्धृत, पृष्ठ ७।

बनाने में बड़ा हाथ बँटाया है। परोक्ष रूप में कला का उद्देश्य आत्मिक विकास रहा है, वह भी उपदेश देकर नहीं, मुग्ध करके, उदात्त वृत्तियों के आदर्श उपस्थित करके। इसी के द्वारा कलाकार लकड़हारे की मनोव्यथा, पथरफोड़ की अंतर्वेदना तथा क्षुधार्तों का करुण चित्रण करके समाज के क्रूर हृदय को आर्द्र करता है।

नाटक की परिभाषा, रूप तथा परिधि

नाटक दृश्य काव्य होने के कारण कला का विशिष्ट अंग है और कला जीवन के सौंदर्य का निरूपण है। भरतमुनि ने भी भावादि से संपन्न लोकवृत्ति को नाटक कहा है।[1]

नाटक और जीवन का अनुकरण

लगभग इसी समय अथवा कुछ ही समय पूर्व यूनान के प्रख्यात मनीषी अरस्तू ने भी यही कहा कि 'नाटकों में क्रिया का अनुकरण होता है।'[2] दो सभ्य देशों के आदि आचार्यों का यह विचार-सामंजस्य, अद्भुत ही नहीं, अत्यंत महत्वपूर्ण भी है। यह समानता केवल नाटक-मीमांसा में ही नहीं, अपितु नाटक एवं रूपक तथा ग्रीक शब्द ड्रामा की रूढ़िगत परिभाषा में भी मिलती है। इनमें भी अनुकरण की ही ओर संकेत है।

किंतु इस सूत्रवत् परिभाषा से नाटक के वास्तविक रूप का ज्ञान नहीं हो पाता क्योंकि अनुकरण का अर्थ सदा से व्यापक और संकुचित रूप में रहा है। इसी अर्थ-

अनुकरण संबंधी भारतीय मत

विभिन्नता से भारत तथा यूनान की नाट्य मीमांसा में अंतर दिखाई पड़ता है। भरत मुनि ने नाटक को त्रैलोक्यवासियों का अनुकीर्तन[3] कह कर उसके व्यापक अर्थ को ग्रहण किया है। अन्य

१—नानाभावोपसंपन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम्॥—नाट्यशास्त्र, अ० १।

२—पोयटिक्स —अरिस्टटिल्

३ —त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्त्रं नाट्यं भावानुकीर्तनम्।—नाट्यशास्त्र, अ० १, का० १०६।

भारतीय विज्ञों ने भी भाव तथा अवस्था के अनुकरण को नाटक कह कर मुनि का समर्थन किया है। इसमें संशय नहीं कि भाव तथा अवस्था का अनुकरण, अनुकरण का अतीव व्यापक स्वरूप है क्योंकि इसमें जीवन के सभी पक्ष आ जाते हैं।

अरस्तू का मत था कि क्रिया (म्यूथोस) ही नाटक का मौलिक तत्व है, (इथोस) नहीं।[2] नाटक को केवल क्रिया का अनुकरण मान लेने से अनुकरण की सीमा सी बँध जाती है। इसी मतविभिन्नता के आधार पर डा० कीथ ने कहा है 'सिद्धान्ततः दोनों नाटक को अनुकृति मानते हैं अतः ग्रीक तथा भारतीय शास्त्रकारों के विचारों में कोई भेद नहीं है। किंतु विचारविभिन्नता का सूत्र वहीं से प्रारंभ होता है जबकि भारतीय शास्त्रकार रूपक को अवस्था की अनुकृति मानते हैं और अरस्तू के कथनानुसार वह केवल क्रिया की अनुकृति है।'

विश्लेषण की दृष्टि से डा० कीथ का यह कथन संदेहमुक्त नहीं है,[3] क्योंकि क्रिया और अवस्था चेतन जगत के एक अविच्छिन्न वस्तु के

१—धीरोदात्ताद्यवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।—मन्दारमरंद चम्पू।

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं।—दशरूपक।

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं इति सामान्य लक्षणम्।—भावप्रकाशन।

धीरोदात्ताद्यवस्थानुकृतिर्नाट्यं रसाश्रयम्।—प्रतापरुद्रीय।

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः।—साहित्यदर्पण।

त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितम्।—कालिदास, मालविकाग्निमित्र।

२ – पोयेटिक्स–ऑरस्टटिल् (ट्रांस्लेटेड बाई लेन् कूपर)।

३—द संस्कृत ड्रामा, इट्स ओरिजिन, डेवलेप्मेंट, थ्योरी ऐंड प्रैक्टिस।

दो पक्ष हैं जो इस प्रकार आपस में गुथे हुए हैं कि बिना एक के दूसरे का अस्तित्व नहीं है। मनोवैज्ञानिक भी भाव और क्रिया को एक दूसरे की प्रतिक्रिया कहते हैं। क्रिया के पूर्व अथवा उत्तर में भाव का न होना संभाव्य नहीं है। वस्तुतः संसार में ऐसा कोई भी नाटक नहीं है जिसमें केवल भावों का चित्रण हो अथवा केवल क्रिया का ही। उदाहरणार्थ भास के नाटक, जिनका प्रणयन संभवतः नाट्यशास्त्र के पूर्व का है, सभी में भावों के साथ क्रिया का अनुकरण भी हुआ है। स्वप्न में पड़े उदयन[1] से वासवदत्ता[2] का अंग स्पर्श होना, नींद से चौंककर उदयन का प्रलाप करना तथा वासवदत्ता का पलायन आदि सभी तो क्रियाशीलता के चित्रण हैं। इसी प्रकार एसचिलस के नाटक 'एगमेम्नन' में क्रियाव्यापार अत्यंत वेगपूर्ण है किंतु 'क्लिटिमिनेस्ट्रा' और कोरस का कथन भावपूर्ण है। तथ्य तो यह है कि नाटक का प्रारंभ संसार के प्रत्येक भाग में क्रिया के अनुकरण से हुआ है और भाव की रेखाएँ अत्यंत क्षीण थीं। संभवतः इसी कारण तत्वदर्शी अरस्तू यह सिद्धांत प्रतिपादन कर बैठे कि भावप्रदर्शन नाटक का आवश्यक अंग नहीं है। वास्तव में भाव तथा क्रिया के समुच्चय के अतिरिक्त चरित्र का कोई अन्य अर्थ नहीं है। इस दृष्टि से भरतमुनि की पर्यवेक्षण शक्ति सराहनीय है। उन्होंने नाटक को कार्यानुकार के रूप में नहीं लोकवृत्तानुकार के रूप में देखा क्योंकि उसी की परिधि में भाव, विचार क्रियादि सभी आ जाते हैं।

क्रिया और अवस्था

सारांशतः कार्य, भाव तथा चरित्र में विच्छेद करना असंभव है। चरित्र के मूल में भाव हैं और वही क्रिया के हेतु भी हैं। उदाहरणतः मुद्राराक्षस'[3] के अधिकांश में कार्यव्यापार क्षीण सा है और विपरीत इसके

१, २—भास के नाटक 'वासवदत्ता' के मुख्य पात्र।

३—विशाखदत्त रचित एक संस्कृत नाटक।

'मृच्छकटिक'[1] क्रियाशीलता से ओतप्रोत है। फिर भी दोनों नाटक कार्य, भाव तथा चरित्र के अनुकरण हैं। अतएव डा० कीथ के पूर्वीय शास्त्रकारों को केवल अवस्थानुसार का प्रतिपादक कहकर संभवतः भूल की है अन्यथा स्वयं भरतमुनि ने 'त्रिपुर दाह' नाटक के अभिनय प्रसंग में नाटक को भाव तथा क्रिया दोनों का अनुकरण माना है।[2] फिर उन्होंने अरस्तू के 'कार्य' शब्द का अर्थ भी संकुचित लिया है अन्यथा व्यापक रूप में हमारे जीवन के प्रत्येक परिवर्तन, प्रत्येक भावोद्दीपन एवं विलयन—सभी कार्य के रूप हैं। कार्यव्यापार के लिये यह कदापि आवश्यक नहीं है कि पात्र सदा अंगविक्षेप करते रहें। फिर क्रिया का संबंध केवल शरीर तक नहीं रह जाता, भाव, विचार आदि भी तो मानसिक क्रियाएँ हैं। तथ्य यह है कि नाटक में केवल घटनाओं का ही विवरण नहीं होता अपितु उससे अधिक घटनावलियों की जन्मदात्री मौलिक वृत्तियों का विश्लेषण एवं सक्रियता का स्पष्टीकरण होता है। क्योंकि क्रियाशीलता मानवात्मा की विशिष्ट प्रवृत्ति है और जब तक मनुष्य में प्राणशक्ति जीवित है, तब तक वह निरंतर दोनों प्रकार की क्रिया, मानसिक तथा शारीरिक करता रहता है और इसी में जीवन की सार्थकता है। अस्तु, यदि इस व्यापक अर्थ में 'क्रिया' का प्रयोग किया जाय तो मानना पड़ेगा कि 'नाटक कथोपकथन तथा आंगिक अभिनय द्वारा प्रदर्शित घटना अथवा घटनावली की अभिव्यक्ति है और उसका विषय है मनुष्य की अहंजन्य क्रिया तथा प्रतिक्रिया।'[3]

१—शूद्रक रचित एक नाटक।

२—ततोभूतगणाः हृष्टाः कर्मभावानुकीर्तनात्।—नाट्यशास्त्र, अ० ४, का० ११।

३—डॉ० वूडब्रिज—द ड्रामा इट्स लॉ ऐंड टेकनीक।

नाटक जीवन की भावसापेक्ष क्रियाओं का अनुकरण है किंतु प्रश्न यह उठता है कि यह अनुकरण वास्तविक है अथवा काल्पनिक ?

नाटक तथा यथातथ्यता

अर्थात् क्या नाटककार जीवन को, उसकी क्रियाओं, भावों तथा परिस्थितियों को तदनुरूप चित्रण करने को बाध्य है, अथवा उसे उनमें चयन तथा पुनर्निर्माण करने की स्वतंत्रता है ? यह समस्या कला के संबंध में सदा से उठती आई है, और नाटकों में क्रिया का अनुकरण होने से यह प्रश्न और अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। फिर आधुनिक समय में प्रकृतिवाद, यथार्थवाद, आदर्शवाद एवं प्रगतिवाद आदि अनेक वादों ने इस समस्या को और भी दुरूह बना दिया है।

इस विषय में हमें प्राचीन शास्त्रकारों से कोई विशेष सहायता नहीं मिलती है। उनके मतानुसार तो नाटक की सार्थकता रसानुभूति से हो जाती है, साधन कुछ भी हो। हाँ,

नाटक तथा विशिष्ट जीवन

उस समय के सफल नाटककारों की कृतियाँ अवश्य कुछ न्यूनाधिक्य प्रकाश डालती हैं। भास और अश्वघोष ही नहीं 'भिन्न रुचेर्जनस्य' वाले कालिदास ने भी विशिष्ट व्यक्तियों के विशेष पक्ष का ही चित्रण किया है और इसी सरणि पर लगभग सभी संस्कृत नाटककार चले हैं। यूनान में भी एसच्लिस, सोफोक्लीज तथा युरीपिडीज नें केवल उदात्त व्यक्तियों के पक्षविशेष को ही अनुकृत किया है। फिर साधारण जीवन के घोर पक्षपाती यथार्थवादी नाटककार इब्सन स्ट्रिंडवर्ग, चेखव, हाप्टमैन, गैल्सवर्दी अथवा 'अश्क', गिरीश घोष, या अत्रे आदि ने ही कब संपूर्ण जीवन का चित्र खींचा ? वास्तव में यह संभव ही नहीं है। नाटक जीवन का प्रतिबिंब अवश्य है, उसमें सत्य की प्रतिच्छाया तथा शीलाचार का अनुकार भी है किंतु चयनात्मक

रूप में। कलाकार को तो परमात्मा ने वह शक्ति प्रदान की है जिसके द्वारा वह सुंदर को असुंदर से, असामान्य को सामान्य से पृथक् कर लेता है, क्योंकि वह जानता है कि असुंदर तथा साधारण लोकरंजन नहीं प्रदान कर सकते। निःसंदेह नाटककार का उद्देश्य केवल चित्र उतारना नहीं वरन् अपनी कलाकृति से प्रेक्षक के हृदय को नचा देना है।"[1] नाटक तो जीवन का वह नवनिर्मित चित्र है जिसमें दृश्य आकर्षक एवं वेगयुक्त होते हैं। अतः नाटककार को अपनी चयन तथा कल्पना शक्ति का उपयोग करना अनिवार्य है।

जीवन में वेग तथा परिवर्तन

फिर जीवन स्वयं अचेतन वस्तु नहीं है, वह प्रतिपल भाग रहा है, क्षण प्रतिक्षण उसमें घोर परिवर्तन होते जा रहे हैं, तब ऐसी चलती दौड़ती तथा रूपांतरित होती वस्तु का वास्तविक चित्रण कैसे संभव है? अधिकाधिक किसी विशेष अवसर का ही चित्र उतारा जा सकता है। पक्ष विशिष्टता ही नाटक को चित्रकला से पृथक करती है। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण विश्व के प्रत्येक प्रख्यात नाटक हैं जिनमें साधारण को स्थान नहीं मिला है। जिन कलाकारों ने प्रकृतिवाद के चक्कर में प्रयास किया भी तो न तो वे लावण्य ही प्रदान कर सके और न कोई आनंद ही दे सके।

नाटक और प्रकृति

नाटक को प्रकृति एवं मानव कृतियों की प्रतिच्छाया अवश्य कहा गया है, किंतु प्रकृति स्वयं है क्या? एक सुख-दुःख, सुंदर-असुंदर, शुभ अशुभ का अबुध संमिश्रण उसमें सभी प्रकार के रंग रूप होते हैं किंतु होते हैं सभी मिश्रित अतः उसका तदनुरूप चित्रण किया ही कैसे जा सकता है? वास्तव में तो कलाकार का कर्तव्य है कि वह चुनी हुई

१—विचित्रं रंजनाप्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नर्तयति नाटकम्।—नाट्यदर्पण।

वस्तुओं को संगठित कर उन्हें उसी प्रकार नवीन तथा सुंदर रूप प्रदान करे जैसे कोई संगीतकार 'सरगम' से एक मधुर रागिनी निकाल लेता है। नाटक को हम प्रकृति का दर्पण अवश्य कह सकते हैं, किंतु यह दर्पण वह साधारण दर्पण नहीं है जिसका हम नित्य व्यवहार करते हैं, और न ऐसे दर्पण का कालिदास, भवभूति, युरीपिडीज तथा शेक्सपियर ने व्यवहार किया ही है क्योंकि 'यदि उसका काँच साधारण हुआ, चिपटा चमकता हुआ, तब तो अनुकृति सच्ची होने पर भी नीरस होगी। न कोई रंग होगा न कमनीयता होगी। सीधे सादे काँच में प्रतिफलित वस्तु के रंग और ज्योति का महत्व ही नष्ट हो जाता है। यथार्थ में नाटक दर्पण का काँच रश्मिकेंद्रक होता है, जिसके द्वारा विकीर्ण रंगीन रश्मियाँ आवश्यकतानुसार असामान्य तथा सामान्य ज्योति उत्पन्न करने में प्रयोग की जा सकती हैं। तभी तो नाटक कला का नाम सार्थक कर सकता है।'[1] इसी प्रकार के रश्मिकेंद्रक काँच का उपयोग विश्व के सफल नाटककारों ने किया भी है। तभी तो इंगलैंड के प्रख्यात नाटककार गैल्सवर्दी के शब्दों में नाटककार 'जीवनसार के महत्वपूर्ण अंश को, किसी आनंदमय नूतन भाव को समेटकर चषक में भर देता है और जिसे हम होठों से लगाकर सदा पीयूषपान कर सकते हैं।'[2] नाटकीय वस्तु जीवन नहीं, जीवनसार है। किसी दृश्य को फोटो यंत्र द्वारा उतारने से अथवा किसी वार्तालाप को फोटोग्राफ द्वारा दुहराने से न तुष्टि होती है और न आनंद ही प्राप्त होता है। नाटक में जीवन के रहस्य का उद्‌घाटन होता है, मानव के विचार, भाव, संघर्ष तथा घटनावली होती है, पर होती है वह सोद्देश्य, चुनी हुई तथा संकलित। अन्यथा नाटककार के पास इतना समय कहाँ है कि वह जीवन के प्रत्येक पक्ष पर दृष्टिक्षेप करे? यहीं से नाटक

१—विक्टर ह्यूगो—इंट्रोडक्शन टु क्रामवेल।

२—जॉन् गाल्सवर्दी—इन् आव् ट्रैंक्विलिटी।

तथा महाकाव्य की विभिन्नता का बीजारोपण होता है।[1] दोनों में ही आदर्श स्थापन तथा इतिवृत्त होता है, विशेषतः ऐतिहासिक नाटकों में। किंतु अवकाशविहीन होने के कारण नाटककार प्रकृतिवर्णन में व्यस्त नहीं हो पाता, उसका मनोरथ दृश्य खचित यवनिकाओं से सिद्ध हो जाता है। उसे 'सोह नवल तनुसारी' आदि कहकर सीताजी का नखशिख वर्णन करने का समय नहीं है वह तो उन्हें रंगमंच पर भेजकर प्रेक्षक द्वारा ही वर्णन करा लेता है। उसे महाभारत के दुष्यंत के जीवन की प्रत्येक घटना की व्याख्या नहीं करनी पड़ती और न रामायण की भाँति घटनावली का क्रम समय के आधार पर करना पड़ता है। वह चरित्रविकास में जिस घटना को उसकी विशिष्टता और प्रभाव के कारण जब जिस रूप में चाहता है चुन लेता है और अपने उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त दुर्वासा मुनि के शाप की नवसृष्टि करना भी श्रेयस्कर समझता है। इसी कारण 'रामायण' और 'उत्तर राम चरितम्', 'महाभारत' तथा 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' में मौलिक विभिन्नता देख पड़ती है। ठीक यही अंतर 'इलियड' और 'ओडेसी' महाकाव्य में तथा युरीपिडीज के सभी नाटकों में दृष्टिगत होता है।

संपूर्ण एवं वास्तविक चित्रण असंभव

जीवन परिवर्तनशील है, विकासोन्मुख है। वह निरंतर नूतन की ओर भागता है। उसका असंतुष्ट हृदय कुछ 'और' माँगता है और उसी 'और' को प्राप्त करने के हेतु वह सुख दुःख के थपेड़े खाता अनवरत आगे बढ़ता जाता है। वास्तव में संघर्ष ही जीवन-शक्ति है और उसी में नाटकीयता है। नूतनता-प्रेमी मानव जीवन की एकरसता में विश्वास नहीं करता, उसे उलट-फेर चाहिए, जय पराजय चाहिए। वह गतिशील है। इसी में उसका

१—सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियोवापि धीरोदात्तगुणान्वितः।—साहित्यदर्पण।

मनोरंजन है, आत्मिक उत्थान है, अतएव ऐसे दौड़ते भागते जीवन का यथातथ्य चित्रण असंभव ही नहीं अप्राकृतिक भी है। इसीलिए वही रचयिता सफल है जो रूपांतरित होते पक्ष का बाह्याकार निरूपण करते समय उसकी आंतरिक व्याप्ति को भी प्रकाश में ला सके। बिना मानव मानस का स्पर्श किए, उसकी भावनाओं को टटोले, हम केवल अनुभावों तथा क्रियाओं के आधार पर उसका वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। नाटक सृष्टि के आदि में जब मानव केवल भोला-भाला निरीह, अकलुष, प्रकृति अनुगामी, स्वच्छ हृदय वाला मानव था तब केवल उसकी क्रिया के चित्रण से काम चल जाता था। शकुंतला को वनकन्या समझ कर प्रेक्षक उसकी पवित्रता का अनुमान कर लेता था। किंतु आज का मानव वह मानव न रहा, उसके भाव, विचार, परिस्थितियाँ आदि सभी गूढ़ एवं रहस्यात्मक हो गए हैं। आज वह कहता कुछ है और करता कुछ और है। केवल बाह्य ज्ञान से उसके अंतस्तल की थाह नहीं लगती इसीलिए नाटककार को उसके हृदय पर पड़े अनेक स्तरों को उधेड़ना पड़ता है।

नाटक और सत्य

फिर भी घटनावली की काट-छाँट, संकलन और गुंफन में भी सत्य की उपेक्षा अक्षम्य है। ऐसा न हो कि राम को चित्रित करने में हम उन्हें रावण बना दें। बिना सत्य के कम से कम बिना उसकी आभा के, जीवन प्रदर्शन असंभव है। अस्तु, नाटक में मनुष्य के व्यवहार, भावनाएँ तथा भाग्य की बदलती रेखाओं का संभाव्य चित्रण आवश्यक है, अन्यथा वे आस्थाविहीन प्रतीत होंगे तथा रसानुभूति में व्याघात पड़ेगा। यही कारण है कि 'सिंदूर की होली'[1] की 'चन्द्रकला' अथवा 'मनोरमा' हमें अपने अस्तित्व का विश्वास नहीं दिला पाती और इसी कारण नाटक की प्रभावोत्पादकता को

१—पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र रचित एक नाटक।

एक धक्का लगता है। इसी लिये कोई भी कला, विशेषतः नाटक, केवल कल्पना के आधार पर नहीं चल सकता। उसमें क्रियाशीलता है, केवल भावनाओं का समवाय नहीं, क्योंकि उसका संपर्क जीवन से है और वह सदा उसी से उलझता, खेलता आया है।

यही कारण विशेष है जो गीतिकाव्य और नाटक में मिलता जाता है अन्यथा दोनों में सिद्धांत प्रदर्शन है तथा दोनों में ही विशिष्ट परिस्थिति संकुचित होकर सघन हो उठती है। किंतु जहाँ काव्य में कल्पना पक्ष अधिक प्रबल होता है, उसकी भाव लहरी जीवन से दूर जाकर भी गूँज सकती है, वहाँ नाटक कल्पित होने पर भी वास्तविकता की छाया में फलता फूलता है। इसीलिए हम 'मत्स्यगंधा'[1] को गीति काव्य तथा 'पंचवटी'[2] को अधिकाधिक नाट्य गीति कह सकते हैं। यही अंतर 'कामना'[3] और 'ज्योत्सना'[4] में भी दिखाई पड़ता है।

डा० श्यामसुंदरदास ने नाटक की परिभाषा में कहा है कि 'कतिपय शक्तिशाली पात्रों और उनके संसर्ग से बनी आकर्षक और वेगवती घटनावली को दृश्यकाव्य का रूप दे देने से रूपक की रचना होती है।'[5] वस्तुतः घटना तथा वेग नाटक की मौलिक विशेषताएँ हैं, इनकी उपेक्षा कोई भी नाटककार नहीं कर सकता। वेग विशेषता ही उसे उपन्यास से विलग करती है। नहीं तो दोनों में घटनापूर्ण कथावस्तु एक ही होती है, बहुधा आरंभ विकास तथा अंत एक सा ही होता है। किंतु विस्मृत वर्णन भाव-

नाटक और उपन्यास

१—उदयशंकर भट्ट रचित, गीतिनाट्य।

२—'निराला' रचित नाट्यगीति।

३—'प्रसाद' रचित गीतिनाट्य।

४—'पंत' रचित नाट्यगीति।

५—'साहित्यालोचन'।—डा० श्यामसुंदरदास।

प्रदर्शन तथा सिद्धांत प्रतिपादन में जितनी स्वतंत्रता उपन्यासकार को है, उतनी नाटककार को नहीं। वह तो रंगशाला, दृश्यों के द्रष्टव्य होने और सबसे अधिक निश्चित अवधि में समाप्त करने के नियमों से शृंखलित है। कथानक प्रारंभ करके उसे एक क्षण भी स्थिर नहीं रख सकता। उसकी क्रियाएँ उछलती, कूदती, दौड़ती चलती हैं, उसके कार्यव्यापार में चंचलता तथा तीव्रता में प्रचुरता होती है। विपरीत इसके उपन्यास में कथावस्तु मंथरगति से इठलाती चलती है। इतिवृत्त, विशाल कथोपकथन, वृहत् दृश्य विवेचन तथा प्रकृति वर्णन, सभी होता है। 'कर्बला'[1] तथा 'चंद्रगुप्त'[2] में, ऐतिहासिक नाटक होने पर भी, क्रिया व्यापार की मात्रा अधिक है और क्रिया के मुख्य गुण हैं—गति तथा चंचलता। इसी कारण इतिवृत्तात्मक होते हुए भी वे नाटक कहे जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाटक में जीते जागते पात्र हमारे संमुख रंगमंच पर हमारी ही क्रियाओं का अभिनय कर के हमें रसानंद प्रदान करते हैं।

नाटक और चलचित्र

सजीव अभिनेता ही नाटक को चलचित्र से पृथक् करता है अन्यथा दोनों में चरित्रचित्रण और हावभाव एक सा ही है। दोनों अवास्तविक को वास्तविक में परिणत करने में प्रयत्नशील हैं और दोनों का प्रदर्शन नट एवं नटी द्वारा होता है। किंतु चलचित्र की जीवनविहीनता तथा अस्थि मांस के प्रतीक की अनुपस्थिति उसमें रसहीनता ला देती है। उसके पात्र किसी दूर देश में बैठे नाट्य करते दिखाई देते हैं। उनमें प्रदर्शित अनुभूतियाँ विगत काल की होती हैं, वह भी छाया द्वारा। रंगमंच तथा प्रेक्षक का संपर्क न होने से उनके पात्र

१—प्रेमचंद रचित नाटक।

२—'प्रसाद' रचित नाटक।

यंत्र द्वारा चालित शालभंजिका होकर रह जाते हैं। वास्तव में नाटक और चलचित्र में अनुकार्य और अनुकृति का अंतर है। प्रेक्षक भावभंगी तो देखता है, किंतु उसमें रक्त संचार की तीव्रता नहीं होती है, वाणी सुनता है किंतु हृत्कंपन नहीं होता है और न उसमें तन्मयता आती है, न रसानंद। नाटक की रसप्रदायिनी शक्ति का एक विशिष्ट कारण है उसमें सजीव अभिनेताओं का होना और यही विशिष्टता उसे चलचित्र की तुलना में अधिक मनोरंजक बनाती है। अन्यथा चलचित्र में यंत्र द्वारा संभाव्य तथा असंभाव्य, सभी दृश्य दिखाए जा सकते हैं और किसी नदी अथवा पर्वत को प्रदर्शित करने के लिये उसे पट्टियों पर चित्रित दृश्यों का आश्रय नहीं लेना पड़ता। तात्पर्य यह कि नाटक की तुलना में चलचित्र अधिक व्यापक तथा शक्तिशाली है पर व्यापक तथा शक्तिसंपन्न होने पर भी नाटक अधिक मानवीय एवं मनोरंजक है। इसका प्रमुख कारण यह है कि नाटक रंगमंच पर प्रदर्शित होने से हमारे मर्मस्थल को अधिक निकट से स्पर्श करता है।

मानवीय जीवन का, जीवित मानव द्वारा अभिनय ही नाटक की सीमा है, और जीवन से सन्निहित होने के कारण उसी के साथ रूपांतरित होता आया है। फलतः उसके आज के

जीवन और संघर्ष

पात्र तथा प्राचीन पात्रों में सहस्रों वर्षों की विभिन्नता देखी जा सकती है। नारी वर्ग की होते हुए भी 'मालविका'[1] और 'आशादेवी'[2] में कोई मनोवैज्ञानिक साम्य नहीं है, उसी प्रकार 'पोर्शिया'[3] तथा 'नोरा'[4] में महान अंतर

१—कालिदास रचित 'मालविकाग्निमित्र' की प्रमुख नारी पात्र।

२—लक्ष्मीनारायण रचित 'मुक्ति का रहस्य' की प्रमुख नारीपात्र।

३—शेक्सपियर रचित 'मर्चेंट आफ वेनिस की' प्रमुख नारी पात्र।

४—इब्सन रचित 'डाल्स हाउस' की प्रमुख नारी पात्र।

दिखाई देता है। ऐतिहासिक पात्र 'मालविका'[1] 'देवसेना',[2] 'कोमा'[3] 'स्कंदगुप्त'[4], 'सिंहरण'[5] और 'पर्णदत्त'[6]–सभी का चरित तथ्यपूर्ण एवं स्वाभाविक है फिर भी आज के मानव को न उसमें आस्था है और न विश्वास। वस्तुतः आज हमारे रूपांतरित जीवन में एक अनंत संघर्ष की अग्नि दहक उठी है। हृदय और मस्तिष्क का संघर्ष, व्यक्ति और प्रकृति का संघर्ष, शोषण और शोष्य का संघर्ष–सभी प्रकार के संघर्ष तो जीवन नीड़ में घुस आए हैं। मानव होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति को चाहे धनी हो अथवा भिक्षुक, महान हो अथवा अधम, समाज तथा उसके क्रूर नियमों से, जगत तथा नैसर्गिक शक्तियों से, स्वयं अपनी नित्य की परिस्थितियों से घातप्रत्याघात करना पड़ता है, क्योंकि वह अपनी आदिम प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर सदा इष्ट संयोग तथा अनिष्ट वियोग चाहता रहा है। उसने सदा यही चाहा कि रूप, यौवन, धन और शक्ति सदा उसके पास बने रहें और इसी लालसा की तुष्टि में वह भटकता रहा किंतु मकड़ी की तरह अपने चारों ओर जाले ही बुनता रहा फलतः सुलझने के स्थान पर वह उलझता गया पर समझता रहा कि विकास हो रहा है, उत्थान हो रहा है! क्या पूर्व क्या पश्चिम, सभी देशों में नगर बसे, चौड़ी चौड़ी सड़कें बनीं, हाट और होटल खुले, महीन से महीन यवनिकाएँ लटकीं, रेडियो द्वारा मंद ध्वनियों को सुनने का उपक्रम हुआ, किंतु हाथ आए केवल घबराए हुए ठहाके, रहस्यपूर्ण फुसफुसाहट, गरजते हुए हाट और भभकती हुई दूकानें। जिंदगी ही दीवानी हो गई। इसी दीवानगी ने उसकी आकांक्षाओं को द्विगुणित, समस्याओं को जटिलतर एवं संघर्षों को विषमतर कर दिया। दार्शनिक उपनिषदों की ओर संकेत करके चिल्लाते ही रहे कि

१, २, ३—प्रसाद रचित 'चंद्रगुप्त', स्कंदगुप्त एवं ध्रुवस्वामिनी के नारी पात्र।

४ ५, ६—प्रसाद रचित स्कंदगुप्त एवं चंद्रगुप्त के पुरुष पात्र।

'जीवन की लीला', मानसिक तृप्ति, शांति की व्यापकता, वेगशाली और अनंत जीवन—ये ही जीवन के वास्तविक तत्व हैं—ये ही चिरंतन विभूतियाँ हैं।'[1]

अस्तु ऐसे संघर्षमय जीवन के निरूपण में नाटक का संघर्षप्रिय होना अनुपेक्षणीय है। 'पश्चिमवाले परिस्थितियों से सामंजस्य नहीं कर सके – इसी लिये जीवन को दुःखमय ही समझ पाए। उनकी मनुष्यता की पुकार थी आजीवन लड़ने के लिये। उनका बुद्धिवाद भाग्य से और उसके द्वारा उत्पन्न दुःखपूर्णता से संघर्ष करने के लिये अग्रसर करता रहा।[2] प्रसाद जी का यह आक्षेप कुछ उचित सा नहीं प्रतीत होता क्योंकि न केवल अरस्तू के देश में ही संघर्ष की ज्वाला भभकी वरन् आनंदपूर्ण जीवन व्यतीत करनेवाले भवभूति और कालिदास का देश भी संघर्ष से अछूता न रहा। वास्तव में हमारी मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ ही ऐसी हैं कि हमें क्षण क्षण के लिये संघर्ष करना पड़ता है। फिर स्वयं प्रसादजी के सभी उदात्त पात्र 'कुचले हुए फूलों के म्लान सौरभ' से जीवन पर्यंत संघर्ष के केंद्र ही तो बने रहे। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि नाटक बाह्य तथा आभ्यंतरिक का, चेतन तथा अवचेतन का, हृदय तथा मस्तिष्क का संघर्षमय चित्रण है। वह मनुष्य को उसके तड़पते हुए हृदय को, उसके परिवर्तित विकृत विचारों और लालसाओं को तथा उसकी बौद्धिक एवं भाव संबंधी क्रियाशीलता को चित्रित करता है, और उस मनुष्य को जो न देव है न दानव, वरन् दोनों का संमिश्रण।

वास्तव में मानव गुण और दोषों का समन्वय है। यही गुण या दोष उसके चरित्र को बनाते या बिगाड़ते हैं। इन्हीं के घटाने बढ़ाने

१—सर राधाकृष्णन्—'ऐड्रेस टु फिलासफिक् कॉंग्रेस'।

२—प्रसाद—'नाटकों में रस का प्रयोग'–पृ० ५३।

की क्रिया को चरित्र विकास करना कहा जाता है जिसके स्पष्ट अर्थ हैं अंतस्तल पर पड़े अनेक स्तरों को उधेड़कर मानव हृदय को नग्न करना। नाटक में इस क्रिया का विशिष्ट स्थान है, इसी लिये तो भरतमुनि ने इसे लोकवृत्तानुकार कहा है। परंतु अरस्तू का मत विभिन्न था, उसका कथन था कि नाटक केवल क्रियाओं का अनुकरण है-जीवन का अनुकरण। जीवन केवल क्रियाओं का संघटन है और क्रियाओं द्वारा ही उसकी इतिश्री होती है।'[1] किंतु यह कथन तथ्यपूर्ण नहीं है। इसमें संशय नहीं कि जीवन घटनाओं का समूह है, किंतु घटनाओं के पृष्ठतल में गुणों का सन्निवेश है, वे ही भावना के मूल हैं और क्रियाओं के हेतु भी। तभी नाट्य विशारद आचार्य निकल ने कहा है 'नाटक में अधिक महत्व की वस्तु है चरित्र का व्यक्तीकरण तथा परिस्थितिजन्य भावों की व्यंजना।' इसी लिये मेटरलिंक (बेल्जियम का नाटककार) हमको उस स्थान पर लिवा ले जाता है जहाँ हम अपनी आत्मा की वाणी सुन सकते हैं।[2] वास्तव में अब नाट्य साहित्य में क्रिया का अनुकरण गौण माना जाता है। 'अरस्तू द्वारा प्रणीत नाटक नियमों के समय से मनुष्य जाति दो सहस्र वर्ष आगे जा चुकी है। इस बीच में न केवल रंगमंच तथा अभिव्यंजना शैली में परिवर्तन हुआ है, अपितु उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण तत्वों—मानव के आध्यात्मिक तथा नैतिक स्वाभाव में, व्यष्टि तथा समष्टि के संबंध में, अदृश्य शक्तियों में, विचारस्वातंत्र्य में तथा परमात्मा संबंधी कल्पना में, घोर रूपांतर हो चुका है।'[3] और यही अनुभवसिद्ध कथन अरस्तू के मत का खंडन करता है।

नाटक में चरित्रविकास

१—पोएटिक्स-ट्रांसलेशन बाई लेन कूपर।

२—ऐन इंट्रोडक्शन टु ड्रामेटिक थ्योरी—निकल।

३—फ्री ट्याग—'आन ड्रामा'

अस्तु, क्रिया, भाव तथा चरित्रचित्रण नाटक के अनुपेक्षणीय अंग हैं। वास्तव में कलाधारा क्रमशः तीन रूपों में प्रवाहित हुई है—

नाटक में क्रिया, भाव और चरित्र अनुकरणीय

प्रथमतः बाह्यनिरूपण, तदनंतर बाह्याभ्यांतरिक और अंत में आभ्यंतरिक निरूपण की ओर झुकी है। इसी लिये मानव जीवन का प्रतिबिंब नाटक भी क्रमशः पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक एवं सामाजिक धरातलों पर से होता हुआ आज मनोवैज्ञानिक भूमि पर खड़ा है। आधुनिक युग जीवन का संपर्क, संघर्ष, समन्वय, विश्लेषण, समता और विषमता चाहता है। आज का मानव पौराणिक कथाओं से संतुष्ट नहीं है और न उसे इतिहास की पुनरावृत्ति में ही आस्था है। इसी लिये भारतीय नाटक उदयन[१] तथा दुष्यंत[२] के काल्पनिक जीवन को प्रदर्शित करता, 'वसंतसेना'[३] की झाँकी दिखाता, 'चाणक्य'[४] की कूट राजनीति का दिग्दर्शन कराता, 'प्रबोध चंद्रोदय'[५] द्वारा धर्माधर्म का रूप देता, 'अंधी गली'[६] में सामयिक समस्या हल कर रहा है। इसी प्रकार यूरोप में भी 'क्लिटिमिनेस्ट्रा'[७] के अधम प्रणय की कथा कहता, 'इडिपस'[८] के भयानक जीवन को उतारता, उपदेशात्मक नाटक

१—भास के 'स्वप्नवासवदत्ता' का नायक।

२—कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतल' का नायक।

३ शूद्रक के 'मृच्छकटिक' की प्रमुख नारी पात्र।

४—विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' का नायक।

५—कृष्णमिश्र का संस्कृत नाटक।

६—अश्क रचित नाटक।

७—एसचिलस के 'एगमेम्नन' की नायिका।

८—युरीपिडीज के 'इडियस रेक्स' का नायक।

(मोरैलिटी प्लेज) द्वारा धर्म का विवेचन करता, 'किंग जान'[1] के इतिहास की पुनरावृत्ति करता आज 'स्ट्राइफ'[2] में श्रमिकों तथा पूंजीपतियों की समस्या में उलझा हुआ है।

नाटक की व्यापक परिधि

वास्तव में नाटक की परिधि इतनी असीमित है कि संसार का कोई व्यक्ति, कोई भाव, कोई अवस्था उसमें प्रतिफलित होने से नहीं छूटे हैं। नाटक का संबंध सृष्टि से है जिसमें जड़ और चेतन, सुख और दुःख, सत् और असत्, सभी समान रूप से उद्भूत और जीवित हैं। इसी सृष्टि का पुनर्निर्माण कर नाटककार प्रेक्षक को हँसाने और रुलाने में समर्थ होता है। वही नाटककार, वास्तव में, कल्याणप्रद, गतिप्रद तथा आनंदप्रद कृतियों का निर्माण कर सकता है जो सृष्टि के प्रत्येक प्रभावशाली पक्ष को अपनी पर्यवेक्षण एवं कल्पना शक्ति द्वारा दृष्टिगत कर दे। तभी तो वह 'शर्विलक'[3] ऐसे प्रख्यात चोर, 'चारुदत्त'[4] ऐसे दानी, 'स्कंदगुप्त'[5] ऐसे वीर, 'पुरगुप्त'[6] ऐसे क्लीव, 'कामना'[7] ऐसी वासनापूर्ण और 'चंपी'[8] ऐसी पतिपरायणा की सृष्टि कर सकता है। इसी लिए नाटक की परिधि व्यापक है।

सारांशतः नाटक रंगमंच पर मानव क्रियाओं, भाव तथा अवस्था की अभिव्यक्ति है जिसे अभिनेतागण प्रेक्षक के संमुख नाट्य करके प्रदर्शित करते हैं और उन्हें रसविमग्न कर के लोकोत्तर आनंद प्रदान करते हैं।

———

१—शेक्सपीयर का ऐतिहासिक नाटक।

२—गाल्सवर्दी का 'स्ट्राइफ'।

३—४—'मृच्छकटिक' के पात्र।

५—६—'स्कंदगुप्त' के पात्र।

७—८—भगवतीचरण वर्मा के 'छलना' की नारी पात्र।

नाटक के उद्देश्य

कला का विवेचन करते समय हम यह कह चुके हैं कि उसका मुख्य उद्देश्य है मानवमात्र को मनोरंजन देना तथा ज्ञान प्रदान करना। ज्ञान भी श्रेय नहीं प्रेय। वह भी प्रचारक के रूप में नहीं वरन् भावशोधक के रूप में। हमने यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि यद्यपि भारतीय परंपरा नाटक को कला के अंतर्गत मानने में आपत्ति करती है, किंतु कला की आधुनिक परिभाषा की दृष्टि से एवं नाटक के काव्य होने के कारण हम नाटक को कला का ही एक अंग मानते हैं। अतः कला होने के नाते नाटक का भी मौलिक उद्देश्य है प्रेक्षक को आनंद प्रदान करना और साथ ही साथ जीवन संबंधी शिक्षा भी देना।

नाटक का उद्देश्य

इन्हीं दोनों लक्ष्यों की ओर भरतमुनि ने भी संकेत किया है। नाटक को उन्होंने 'क्रीडनीयक' माना है।[1] इसकी टीका अभिनवगुप्त ने चित्त के विक्षेप से की है।[2] वास्तव में नाटक चित्त बहलाने का साधन तो है ही किंतु उसका खेल वह नहीं है जिससे कोई बालक उलझता, खेलता तथा ताली बजाकर प्रसन्न होता है। उसका

भरतीय मत

१—क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्।

—नाट्यशास्त्र प्र० अध्याय०, का० ११

(काशी संस्कृत सीरीज)

२—क्रीडनीयकं क्रीड्यते चित्तं विक्षिप्यते विह्रियते येन तदिच्छामः।

......'यदि वा क्रीडनाय हितं क्रीडनीयकम्।

—अभिनव भारती, पृ० १०

खेल तो उस भूमि पर होता है जहाँ सुख और दुःख, हास और रुदन, अट्टहास और चीत्कार दोनों हैं। केवल सुख प्रदान करनेवाले जीवन से उसे सरोकार नहीं है। आगे चलकर स्वयं भरतमुनि ने इसपर प्रकाश डाला है। उनके मतानुसार श्रुति, स्मृति और सदाचार की परिशिष्ट कल्पना कर के संसार के लोगों का विनोद करने के लिये नाटक की रचना की गई।[1] इसमें कोई संदेह नहीं कि हमें श्रुति और स्मृति द्वारा ही ज्ञान प्राप्त होता है, तथा सदाचार ही शुद्ध जीवन का मौलिक आधार है। इसी विचार ने नाट्य को जन्म दिया।[2] संभवतः इसी कारण नाटक जीवन से कुछ विशिष्ट घटनाओं को चुनकर उनका प्रदर्शन करता है जिससे हमारी शुद्ध भावनाएँ उद्बुद्ध होकर हमारा मानवधर्म सार्थक करें। अतः नाटक केवल मनोरंजन का साधन नहीं है।

नाटक और धर्मशास्त्र

किंतु नाटक धर्मशास्त्र भी नहीं है और न नीतियों का शुष्क संग्रह ही। जान पड़ता है कि कभी नाटककारों की यह धारणा हो गई थी जिसके विरोध में धनंजय को उन लोगों की चुटकी लेना पड़ा जो यह समझते थे कि नाटक इतिहास की नाईं केवल ज्ञान प्रदान करता है, शुष्क, नीरस ज्ञान। उनका कथन था कि नाटक आनंद से विमुख नहीं होता,[3] वरन् उनके मतानुसार

१—श्रुति स्मृति सदाचार परिशेषार्थ कल्पनम्।
विनोद जननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति॥
ना० शा०, अ० १, का० १२४।

२—अहो नाट्यमिदं सम्यक्त्वया सृष्टं महामते।
यशस्यं च शुभार्थं च पुण्यं बुद्धि विवर्धनम्॥
ना० शा०, अ० ४, का० १२।

३—आनंदनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय॥
दशरूप, प्र० प्रकाश, का० ६।

तीन अर्थों की पूर्ति करता है।[1] इसी पर धनिक ने कहा है कि परमानंद रूप में रसास्वाद कराना ही रूपक का फल है।[2] इसी बात को अन्य भारतीय साहित्यमर्मज्ञों ने भी घटा बढ़ा कर कहा है।

पाश्चात्य मत

किंतु यह विचारधारा केवल भारत की ही नहीं है अपितु यूरोप के प्रसिद्ध साहित्यमनीषी अरस्तू ने भी नाटकों की व्याख्या करते हुए कहा है कि दुखांत नाटक करुणा तथा आतंक के भाव उद्दीप्त कर के हमारे मनोविकारों का शोधन करते हैं। वे लोग जो औरों के दुःखों से मुख मोड़े रहते हैं, उनकी उदासीनता नाटक देखकर मिट जाती है और सहानुभूति के भाव जाग्रत होने पर उनके हृदय से स्वार्थ की भावना एवं प्रेरणा निकल जाती है।[3] प्रसिद्ध नाटककार ग्रेनविल बार्कर का कथन है कि 'वास्तव में नाटक सबसे अधिक विवेकी, ज्ञानवर्धक तथा आनंदप्रद रचना स्वीकार की गई है।'[4] यही कारण था कि सोफोक्लीज के एक एक नाटक के प्रदर्शन में एथेंसनिवासी लक्ष मुद्रा व्यय कर डालते थे। ब्रूटस ऐसे शुष्क राजनीतिज्ञ एवं आगस्टस ऐसे चतुर सम्राट ने भी अभिनेताओं का प्रयोग किया था।

पश्चिमी नाट्य साहित्य

किंतु यूरोप में नाटक का इतिहास सदा से एक रूप में प्रवाहित नहीं हुआ। जान पड़ता है कि यूनान की सभ्यता के पतन तथा रूमानी सभ्यता के उत्थान के साथ विलासिता, कामुकता तथा अन्य कुप्रवृत्तियाँ जीवन में प्रवेश कर गईं और नाटक जीवन का प्रतिबिंब होने के कारण उनसे अछूता न रहा। फलतः

१—कार्य त्रिवर्ग.........प्र० प्रकाश, का० १६।

२—स्वसंवेद्यः परमानंद रूपी रसास्वादो दशरूपाणां फलम्—दशरूप टीका।

३—पोएटिक्स—ट्रांसलेशन बाई लेन कूपर।

४—फ़ाम द प्रीफ़ेस आव् हिज़ ड्रामाज़।

नाटक द्वारा अनाचार बढ़ा और मानवता का वीभत्स रूप देखा और दिखाया जाने लगा। इसी कारण पोप द्वारा राजनीतिक बागडोर सँभालते ही सभी प्रेक्षागृहों पर अर्गला लग गई और ईसा की १२वीं शताब्दि के पूर्व तक नाटक मृतप्राय रहा। तदुपरांत भी लगभग तीन सौ वर्षों तक नाटक मंच सजीव न हो पाया, केवल एक ढाँचा था जो यदाकदा गिरजाघर के पार्श्व में खड़ा कर दिया जाता था और जिस पर धार्मिक पुरुषों के सुकृत तथा शैतान के दुष्कृत का प्रदर्शन होता था। इससे इतना अवश्य सिद्ध हो जाता है कि धर्मकट्टर एवं अंधविश्वासी होने पर भी पादरियों को भी ज्ञानोपदेश के लिये नाटकाभिनय का साधन रूप में उपयोग करना पड़ा।

अन्य पश्चिमी कलाविदों का मत

इंग्लैंड के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, सैनिक, कवि तथा कलामर्मज्ञ सर फिलिप सिडनी का मत था कि "हासद' नाटक हमारी नित्य की भूलों का सुखद चित्रण है। इसका निरूपण इस प्रकार होता है कि प्रेक्षक नाट्य देखकर इतना लज्जित होता है कि उन त्रुटियों को अपने पास फटकने भी नहीं देता। और सुखद नाटक से हमें यह शिक्षा मिलती है कि यह संसार अस्थायी है, तथा इसकी स्वर्ण से चमकती भीत तथा उसी प्रकार से चमकती छत, दोनों के आधार अत्यंत दुर्बल हैं'।[1] उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि आनंद के साथ नैतिकता का ज्ञान भी आवश्यक है, और इसी मत की पुष्टि यूरोप के सभी समीक्षकों ने भी की है।

निष्कर्ष

अतः इन मतों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाटक न तो केवल आनंदप्रद है—परियों की कहानी की तरह, और न केवल शिक्षाप्रद है–धर्मशास्त्र की भाँति। अपितु वह दोनों का संमिश्रण है। इसी कारण नाटक हमारे जीवन का अनुकरण है,

---

१—ऐपोलोजी फार पोएसिक – सर फिलिप सिडनी।

क्रिया, भाव एवं अवस्था का अनुकरण है और वह लोकरंजन के साथ-साथ नैतिक शिक्षा भी देता है।

मनोरंजन का कारण

किंतु प्रश्न यह उठता है कि नाटक लोकरंजन कैसे प्रदान करता है ? यह एक जटिल एवं मनोवैज्ञानिक प्रश्न है जिसका संतोषप्रद उत्तर मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर ही दिया जा सकता है। यों तो भरतमुनि ने रसवाद की सृष्टि करके इस समस्या को सुलझाने का प्रयास किया है किंतु रस की व्याख्या स्वयं इतनी गूढ़ है कि समस्या सुलझने के स्थान पर और अधिक उलझ गई है। रसवादियों द्वारा प्रतिपादित 'लोकोत्तर आनंद' ही स्वयं क्या वस्तु है अथवा किस रूप में या साधन से प्राप्त होता है आदि अनेक प्रश्न हैं जिन पर बड़ा मतभेद रहता आया है। हम उनका विवेचन इस स्थान पर करना संगत नहीं समझते, अस्तु इस विषय को समझने के प्रयास में मनोविज्ञान की ही सहायता लेंगे।

लोकरंजन की परिभाषा

'लोकरंजन' की यदि हम परिभाषा ढूँढ़ें तो हमें यही कहना पड़ेगा कि यह अवस्थिति मानव में तभी होती है जब वह किसी वस्तु अथवा भाव से प्रेरित हो आह्लादित होता है। तात्पर्य यह कि मनःतुष्टि में ही लोकरंजन होता है। इसी दशा को मनोवैज्ञानिक भाषा में प्रवृत्ति की तुष्टि कहते हैं।

मानव की प्रवृत्तियाँ

वास्तव में तथ्य यह है कि मानव में कुछ विशिष्ट प्रेरणायें होती हैं जिनका निजी ध्येय होता है और वे मानवात्मा को उसी ओर आकृष्ट करती हैं। यदि ध्येय की पूर्ति हो गई तो आत्मा तुष्ट हो गई, सुख प्राप्त हुआ अन्यथा दुःख और असंतोष सामने आता है। इन्हीं आंतरिक प्रेरणाओं को मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ कहते हैं।

जन्मजात होती हैं, इनमें शोधन तथा रूपांतर होता रहता है किंतु ये आमूल नष्ट नहीं होतीं।

अब यह जानना आवश्यक हो जाता है कि वे कौन सी प्रवृत्तियाँ हैं जिनको नाटक संतुष्ट करके हमें आनंद प्रदान करता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डंविल ने अनेक प्रवृत्तियों की व्याख्या की है[1] किंतु हम यहाँ केवल उन्हीं प्रवृत्तियों का विवेचन करेंगे जिनका संबंध नाटक से है।

प्रवृत्तियाँ और नाटक

इसमें संवेदनशीलता (सिंपैथी) की प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा हम किसी वस्तु अथवा भाव का अनुभव ग्रहण कर के चेतन अथवा अवचेतन रूप में प्रभावित होते हैं। संसूचन (सजेशन) इसी प्रवृत्ति का सुसंस्कृत रूप है। उसी के द्वारा हम किसी विचार से बिना तर्क किए प्रभावित होते हैं और उस विचार को इस प्रकार ग्रहण कर लेते हैं कि मानो वह हमारा स्वयं का अनुभूत विचार हो। मैकडूगल ने उसे 'एक मस्तिष्क संबंधी क्रिया' बतलाया है, जिसके द्वारा बिना विवेचन किए हम किसी के विचार को स्वयंसिद्ध मान लेते हैं।[2] सर टी० पी० नन ने इसे 'बिना इच्छा के दूसरों का विचार ग्रहण कर लेने की क्रिया' कहा है।[3] इसी संसूचन क्रिया का नाटक एवं अन्य काव्यों में बड़ा महत्व है क्योंकि इसी के द्वारा रचयिता अपने पाठक एवं प्रेक्षक के भाव आदि को परिवर्तित कर देता है।

मानव में आत्मप्रदर्शन की सहज भावना होती है जो हमारी अहं प्रवृत्ति का मुख्य साधन है। वस्तुतः मानव यही चाहता है कि उसके सहवासी उसके प्रति सुंदर भावना रखें।

१—फंडामेंटल्स् ऑव् साईकालोजी—डंविल।

२—ऐन आउटलाइन् ऑव् साईकालोजी—मैकडूगल।

३—एजुकेशन, इट्स डेटा ऐंड फर्स्ट प्रिंसिपुल्स—टी० पी० नन।

इसी प्रसंग में डंविल ने हमारा ध्यान एक और आंतरिक प्रेरणा की ओर आकर्षित किया है। वह है हमें सुख की ओर उन्मुख और दुःख की ओर से पलायन करानेवाली प्रवृत्ति।

सुख-दुःख प्रवृत्ति वस्तुतः हम उसी वस्तु को ग्रहण करना चाहते हैं जिससे हमें सुख प्राप्त होता है, अथवा होने की संभावना होती है, इसी प्रकार दुखद वस्तुओं से हम दूर भागने का प्रयास करते हैं।

इसी से मिलती जुलती हमारी क्रीडन प्रवृत्ति है जिसके द्वारा हम

क्रीडनप्रवृत्ति अनुपयोगी वस्तु की ओर भी प्रवृत्त होते हैं, केवल सुख प्राप्ति के आधार पर।

किंतु उपर्युक्त समस्त प्रवृत्तियों से अधिक उपयोगी एवं सबल प्रवृत्ति है कुतूहल। यही हमारे संपूर्ण ज्ञानार्जन की आधारशिला है।

कुतूहल प्रवृत्ति कुतूहल ही किसी वस्तु में अभिरुचि उत्पन्न करता है, हमें यह जानने को प्रेरित करता है कि संसार में क्या और क्यों हो रहा है? इसी प्रवृत्ति को तुष्ट करने के लिये संसार की मूलतः सभी कलाओं की उत्पत्ति हुई है।

कुतूहल के साथ ही किसी भी बीभत्स तथा कुरूप वस्तु, भाव अथवा विचार के प्रति प्रत्येक मनुष्य में घृणा की वृत्ति सहजात होती

घृणा प्रवृत्ति है। मानव में सौंदर्य की भावना होती है जिससे कि वह किसी सुंदर वस्तु को देख आकर्षित, पुलकित और आनंदित होता है, और विपरीत इसके असुंदर को देख मुँह फेर लेता है, घृणा करता है और उससे दुःख का अनुभव करता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि अनुकरण, कुतूहल, क्रीड़न तथा आत्मतुष्टि की प्रवृत्तियाँ हमें मानव की क्रियाओं का

प्रेक्षण करने को बाध्य करती हैं। अतः यदि इन प्रवृत्तियों को अभिनय से संतोष प्राप्त होता है तो निश्चयतः वह नाटक लोकरंजन का साधन होगा। भरतमुनि तथा अरस्तू ने भी नाटक के संबंध में दो प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया है—अनुकरण तथा क्रीड़न। संभवतः इसी लिये उन लोगों ने उदात्त चरितों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। परंतु अनुकरण के पृष्ठतल में वह प्रेरणा है जो सदा गुणों को ग्रहण तथा अवगुणों को त्याग देने को बाध्य करती है। गुण वही जिसके द्वारा सौंदर्यभावना जाग्रत हो और सौंदर्यभावना का जागरण तब होता है जब कि कोई व्यक्ति किसी वस्तु के विशिष्ट पक्ष को देखकर अनायास उसकी ओर आकर्षित होता है तथा जिसकी अनुभूति में कुछ क्षण के लिये अपने को तथा अपनी व्यावहारिक आवश्यकताओं को भूल जाता है। अस्तु, वस्तु विशेष में आनंदप्रदायिनी तथा कुतूहलउद्बोधक शक्ति एवं सौंदर्य का होना अनुपेक्षणीय है। मूलतः इन्हीं का सफल प्रदर्शन हमारे चित्त को संतोष प्रदान करता है तथा हमारी क्रीड़न प्रवृत्ति को तुष्ट करके हमें आनंदविभोर कर देता है।

सहजात प्रवृत्तियाँ और नाटक

नाटक में यह सभी गुण हैं। इसके द्वारा हम जीवन के विशिष्ट पक्ष की सुंदर भावना प्राप्त करते हैं और अपनी सभी प्रवृत्तियों की प्रेरणा को शांत करते हैं। हमारे मन में शांत वातावरण की सृष्टि होती है जिसके फलस्वरूप हमें आनंद प्राप्त होता है। वस्तुतः 'आनंद' प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डंविल के शब्दों में 'हमारे सुव्यवस्थित आदर्श मनोभावों का रूप है।'[1] इसी स्थल पर परिपूर्णतावादी (परफेक्शनिस्ट) तथा आनंदवादी (एपीक्यूरियन) एकमत होते हैं।

नाटक द्वारा प्रवृत्तियों की संतुष्टि

प्रसंगवश, यह प्रश्न उठता है कि क्या प्रवृत्तियों की उत्कट प्रेरणाओं की तुष्टि से हमें उस प्रकार का सुख प्राप्त हो सकता है, जिसे हम 'लोकोत्तर आनंद' अथवा 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहें ? प्राचीन शास्त्रकारों ने तो निश्चय रूप से कहा है कि प्रवृत्ति की प्रेरणाओं को संतुष्ट करना काव्य का ध्येय कदापि नहीं रहा है।

अशृंखलित प्रवृत्ति एवं सुख

किंतु यथातथ्यवाद ने अपने तर्कपूर्ण प्रमाणों से यह सिद्ध करना चाहा है कि कला का ध्येय आमूल जीवन प्रदर्शन है और अंतर्वृत्तियाँ ही मानवचरित्र की आधार हैं, अतः उनका यथातथ्य चित्रण करने को कलाकार बाध्य है। इस सिद्धांत का समुचित विवेचन हम प्रथम प्रकरण में कर चुके हैं और इस निश्चय पर भी पहुँचे हैं कि इसका फल शुभ नहीं हुआ है, क्योंकि वासना का नग्न चित्रण अनिष्टकारक ही होगा। इसी लिये प्रकृतिवादी रचनाएँ केवल महत्वहीन समस्याएँ, कल्पनाहीन निर्देशों, सस्ती वासनात्मक कुरुचियों और कौशलहीन अभिनयों का प्रदर्शन मात्र ही रह गई हैं। ये रचनाएँ केवल उन्हीं को प्रसन्न करती हैं जिनका मस्तिष्क अविकसित है, क्षणिक सुख भले ही प्रदान करें, विद्युतआघात स्वरूप संवेदन भले ही दें, किंतु सुव्यवस्थित मनोभाव नहीं दे सकतीं। वास्तव में इस प्रकार के काव्यों ने आदर्शहीनता ला दी है। प्रकृतिवादी भले ही इसे सराहें किंतु जो हमारी आदिम प्रवृत्तियों को उद्दीप्त करके वासना की ओर खींच रहा है तथा जिसने अब तक की सभ्यता और संस्कृति को तिलांजलि देने का कुप्रयास किया है वह साहित्य जनहितकारी कैसे हो सकता है ?

मानव को कुप्रवृत्तियों का दास बनाना, उसकी कुटिल भावभंगियों पर उसे नचाना न तो जीवन का ही लक्ष्य है और न कला का ही।

१—फंडामेंटल्स ऑव् साइकालाजी—डंविल।

तथ्य तो यह है कि प्रवृत्तियों की शोधनशीलता ही उसकी मुख्य विशेषता है। इसमें संदेह नहीं कि प्रवृत्तियाँ ही हमारे चरित्र के मौलिक तत्व हैं। किंतु बौद्धिक मनुष्य ने यदि

प्रवृत्तियों का शोधन

उनका शोधन अथवा रूपांतर न किया होता तो उसमें दैवी भावना के उद्दीपन की बात तो दूर रही, वह पशुता से विकृत हिंसक जीव मात्र होता। यही प्रवृत्तियों का शोधन उसे पशुवर्ग से पृथक् करता है अन्यथा आहार, निद्रा और मैथुन तो पशु-कर्म भी हैं। इसलिये सुशिक्षित सामाजिकता प्राप्त करने एवं मानव बनने के लिये हमें स्वार्थी के स्थान पर परमार्थी होना आवश्यक है एवं नियंत्रण द्वारा निर्मलता तथा आत्मसंयम द्वारा शान्ति प्राप्त करना है, क्योंकि जिस जाति अथवा समुदाय ने केवल आदिम प्रवृत्तियों का ही आश्रय लिया वे रेड इंडियन्स् की भाँति या तो नष्ट हो चुकी हैं अथवा हो रही हैं।

मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि मानव दो प्रकार की निर्माणक शक्तियों वंशानुक्रम (हेरिडिटी) और वातावरण (इन्विरान्मेन्ट) से अधिकृत है। ज्यों ज्यों वह बालक

मानवविकास

से प्रौढ़ होता है वातावरण के अनुकूल वंशानुक्रमता की परिस्थिति से बाध्य होकर अथवा सहवासियों का अनुकरण करके वह शोधन करता है। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि मनुष्य केवल क्रियाओं का ही अनुकरण नहीं करता, वरन् भावों और विचारों का भी करता है। इन्हीं तीन प्रकार के अनुकरणों को शुद्ध अनुकरण (इमिटेशन) संवेदन (सिम्पैथी) तथा संसूचन (सजेशन) कहते हैं। ये मनुष्य, की यूथचारी प्रवृत्ति के फल हैं। वास्तव में ये ही प्रवृत्तियों को प्रभावित करते रहते हैं और इन्हीं के द्वारा उसकी जीवन प्रणाली निर्धारित होती रहती है। प्रवृत्तियाँ प्रभावित एवं रूपांतरित हो

होकर नवीन रूप धारण कर लेती हैं। इसी को मनुष्य का सुसंस्कृत होना कहते हैं। वस्तुतः 'प्रत्येक अनुभव (क्रिया, वस्तु, भाव और विचार संबंधी) एक आभा छोड़ जाता है जो स्वयं क्रियाशील होती है और अवचेतन रूप में शनैः शनैः हमारे भावों को रूपांतरित कर देती है।'[1]

अनुभव और विकास

अतः हमारे मानसिक विकास में नित्य के अर्जित अनुभव (व्यापक रूप में) अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि हमारी मानसिक चेतना का पृष्ठतल जिसे स्थायीभाव कहते हैं, अंतःक्षोभों के संघटन का फल होता है। वस्तुतः हमारे स्थायी भाव ही मानसिक व्यवहार के मूल हैं, जिनके आधार हैं हमारे नित्य के 'अनुभव'। 'हम विचारों की भूमि में विचार करते हैं और दूसरे के विचार हमारे भाव तथा मानसिक प्रेरणा को प्रकाशित कर देते हैं।'[२] हम यह कह आए हैं कि आदिम प्रवृत्तियों के नग्न रूप को प्रदर्शित करना न तो कला का लक्ष्य हो सकता है न नाटक का ही। नाटक को यदि भाव संशोधन अभीष्ट है तो केवल उसी प्रकार का अभिनय आवश्यक है जिसके द्वारा हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ उद्दीप्त नहीं, संशोधित हों। 'नाटक तो हमारी विचार राशि के पृष्ठतल में कुछ भावों का आरोप करता है।'[3]

अन्यत्र हम बता चुके हैं कि मनोवैज्ञानिकों ने भावशोधन के तीन साधन बताए हैं—दमन संशोधन और ऊर्जस्वीकरण। दमन निःसंदेह जीवन में अत्यंत उपयोगी है और इसी कारण इंद्रियजित् योगी कहलाता है। किंतु फ्रायड का कथन है कि हम अपनी

१—रॉस–फंडामेंटल्स् ऑफ् साइकालोजी।

२, ३—नार्थ् वर्क ऐंड ह्वाइट्‌लो–साइकालाजी आव् चाइल्डहुड।

मनोवृत्तियों का पूर्णतः दमन कर ही नहीं सकते और आज के सभी मनोवैज्ञानिकों की भी यह एकमत राय है कि प्रवृत्तियों का दमन असंभव ही नहीं, शुभ भी नहीं है। यदि उन्हें प्रतिफलन का अवसर न मिला तो कभी न कभी ये प्रवृत्तियाँ भभक कर आत्मा का नाश कर देंगी। फ्रायड ने तो अवचेतन को वह कोठरी बताई है जिसमें समाज, आत्मसंमान तथा परिस्थिति से बाध्य होकर मनुष्य प्रकृतिजन्य इच्छाओं को तिरस्कृत करके फेंक देता है। किंतु ये उपेक्षित इच्छाएँ तथा शमित प्रवृत्तियाँ जीवित रहकर, सड़ती और दुर्गन्ध फैलाती रहती हैं तथा अवसर पाकर हमारी क्रियाओं पर आघात कर बैठती हैं। उनके द्वारा एक प्रकार की कुंठा (कांप्लेक्स) उत्पन्न हो जाती है जो चेतन और अवचेतन में निरंतर संघर्ष उत्पन्न कर देती है और चिरंतन उद्विग्नता, गोपनीयता तथा पलायनता को जन्म देती है।

इसी कारण आधुनिक मनोवैज्ञानिक दमन को शुभ नहीं मानते हैं। शोधन तथा ऊर्ज्जस्वीकरण को लाभप्रद बताते हैं। वस्तुतः

भावशोधन एवं ऊर्जस्वीकरण

शास्त्रप्रदत्त ज्ञान ने इंद्रियों का दमन करने का प्रयास किया, किंतु उसकी विफलता अनुभवसिद्ध है। केवल सिद्धांत प्रतिपादन कि अमुक धर्म है, अमुक अधर्म, मानव को प्रश्न करने के लिए बाध्य करता है कि क्यों? परंतु उसी को दृष्टांत द्वारा बोधगम्य कराने में किसी प्रकार की बाधा नहीं खड़ी होती। वास्तव में संकीर्ण दृष्टि होने के कारण हम यह नहीं समझ पाते कि हमारी भूलें, हमारे दुष्कर्म, हमारी स्वार्थपरायणता, क्रूरता आदि के क्या परिणाम होते हैं। यथा ईसा से ४१६ वर्ष पूर्व यूनानी सैनिकों ने मेलास पर आक्रमण करके जिस क्रूरता तथा नृशंसता का परिचय दिया उसके संमुख पाशव नृशंसता भी लज्जित हो गई। किंतु ग्रीक सैनिक अपनी बर्बरता के वास्तविक रूप से प्रायः अपरिचित थे। इसी का चित्रण

युरीपिडीज ने 'ट्रोजन विमन' में किया है, जिसे देखकर क्रूर भावों का संशोधन स्वयमेव होने लगता है और किसी सिद्धांतप्रतिपादन की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसी प्रकार डा० वर्मा की रचना 'पृथ्वीराज की आँखें' देखकर किस प्रेक्षक का हृदय नहीं भर आवेगा! अथवा उत्कोच का भयानक परिणाम 'सिंदूर की होली' में देखकर किसका मन ग्लानि से न भर उठेगा!

अरस्तू का दमन सिद्धांत

इसी शोधन के आधार पर ही अरस्तू ने विकृत उत्तेजना को शमित (कैथारसिस) करने का सिद्धांत प्रतिपादित किया था। शमन का अर्थ है—मलिनता का निष्कासन। अरस्तू के मतानुसार दुःखद नाटकों को देखकर प्रेक्षक अपने निकृष्ट भावों को त्याग देता है।[1] अस्तु, काव्य के इतिहास में संशोधन कोई नवीन वस्तु नहीं है।

ऊर्जस्वीकरण

कुप्रवृत्तियों के निरोध का सर्वोत्तम साधन ऊर्जस्वीकरण है। ऊर्ध्व गति द्वारा किसी प्रवृत्ति को उसके आत्मिक विकास संबंधी ध्येय से मोड़कर किसी सामाजिक तथा वैयक्तिक उत्थान की ओर घुमा दिया जाता है। उदाहरणतः किसी अनुपयोगी वस्तु के प्रति निरर्थक कुतूहल को वैज्ञानिक ज्ञान की ओर मोड़ देना, अथवा भय की प्रवृत्ति को दुष्कर्म के प्रति भय में परिणत कर देना। ऊर्जस्वीकरण मानव की प्रवृत्तिजन्य शक्ति का ह्रास नहीं होने देता, वरन् उसी का उपयोग करके सुंदर वस्तु का निर्माण करा देता है। यही इसकी मुख्य विशेषता है। इसी क्रिया में, अनुकरण का, भव्य रूप दृष्टिगत होता है और इसी कारण आदर्श पात्रों की क्रियाओं का अभिनय

१—फ्राम द ट्रांसलेशन आव 'पोयटिक्स बाई आरडस्की।

होता है। 'अनुकरण द्वारा ही बालक पाशव प्रवृत्तियों से मुक्त होकर आत्मसंयम को अपनाकर विवेकपूर्ण क्रियाएँ करने लगता है। इस प्रकार प्रवृत्ति ने मानव तथा समाज के विकास में बड़ा हाथ बँटाया है'[1]

सारांशतः मानव संबंधी क्रियाओं के निरूपण से प्रेक्षक के भाव का संशोधन होता है। उसी के द्वारा उसके अंतराल में पड़ी प्रवृत्तियाँ सरलता से रूपांतरित की जा सकती हैं और आत्मोत्थान के लिये यह निरूपण अधिक विश्वसनीय है।

नाटक का द्वितीय उद्देश्य

उद्देश्य के संबंध में धनंजय के मतानुसार नाटक का दूसरा ध्येय 'व्युत्पत्ति' है। व्युत्पत्ति का अर्थ है 'शास्त्र ज्ञान' अथवा वह ज्ञान जो पठन, पाठन एवं विवेचन से प्राप्त होता है। किंतु ज्ञान के अंतर्गत आचार, विचार, नीति और धर्म सभी की शिक्षा होती है। दार्शनिकों ने तो 'ज्ञानान्मुक्तिः' कहकर ज्ञान की महिमा और भी बढ़ा दी है।

ज्ञानार्जन के साधन

अतः हमें यह भी जान लेना आवश्यक है कि ज्ञानार्जन के साधन क्या हैं? मनोवैज्ञानिकों ने ज्ञान की उत्पत्ति की तीन अवस्थाएँ बताई हैं–प्रथमतः इंद्रियजन्य अनुभूतियाँ, फिर अनुभूतियों का बोध अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान, अंततः उसी प्रत्यक्ष ज्ञान का क्रमबद्ध होना अर्थात् विकल्पात्मक ज्ञान। यही तीसरी अवस्था शुद्ध ज्ञान का उद्‌भव करती है और हमारी विचार राशि इसी शुद्ध ज्ञान का समुच्चय है।

१—रास्‌-फंडामेंटल्स आव्‌ साइकालाजी।

किंतु इंद्रियजन्य ज्ञान सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि इसके आधार पर खचित रेखा घनी और स्पष्ट होती है। सर टी० पी० नन ने तो यहाँ तक कहा है कि 'हमारी शिक्षा का आरंभ इंद्रियजनित चेष्टाओं की प्रक्रिया से ही होता है।'[1] इस दृष्टि से दृश्य काव्य होने के कारण नाटक ज्ञान प्रदान करने का अत्यंत उपयोगी साधन है। हम राम की क्रियाओं का प्रत्यक्ष अभिनय देखकर उनके संबंध में अधिक स्पष्ट ज्ञान का अर्जन करते हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान की सर्वोत्कृष्टता

नाटक में, वस्तुतः निरुद्देश्य अनुकरण नहीं होता। नाटक तो हमें नित्य ही बताता है कि शुभ कर्मों का फल शुभ और अशुभ कर्मों का अशुभ होता है। इसीलिए भरत मुनि ने नाटक को उपदेशप्रद कहा है।[2]

वास्तव में जीवन स्वयं बड़ा शिक्षक है, उसके सफल अनुकरण से हम उसके मौलिक सिद्धांतों से तथा उनके अतिक्रमण से अशुभ फल आदि सभी से परिचित हो जाते हैं। जिस समय हम अभिनय द्वारा अपनी त्रुटियों, ढोंग, वाचाटता, क्लीवता आदि का वास्तविक रूप देखते हैं तब उनके प्रति केवल उदासीन प्रेक्षक नहीं रह जाते अपितु जार्ज बर्नड शा के शब्दों में 'हम अपनी दुष्कृतियाँ किसी अभियुक्त की तरह देखने लगते हैं और उसी प्रकार नाटक के अंग हो जाते हैं जैसे 'हेमलेट'।' फ्रांस के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ मान्तेग का कथन था कि 'जिस प्रकार कटघरे में बंद सिंह को देखकर हमें भय नहीं होता, किंतु

१—एजुकेशन इट्स डेटा एंड फर्स्ट प्रिंसिपुल्स —टी० पी० नन्।

२—धर्ममर्थ्यं यशस्यं च सोपादेशं स संग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्॥
ना० शा० अ० १ का० १४।

उसे यदि हमारे मध्य मुक्त कर दिया जाय तो हम भय से काँप उठते हैं–ठीक उसी प्रकार हम अपनी भूलों को साधारण समझ कर ध्यान नहीं देते किंतु उनका रंगमंच पर निरूपण होते ही हम उनके बृहदाकार भयानक रूप को देखकर भयभीत हो उठते हैं।'

उपदेशात्मक साहित्य की उपादेयता

निःसंदेह केवल आनंद प्रदान करने के लिये ही नाटक की सृष्टि नहीं हुई है। जब तक इसमें भाव न हो, मानवता न हो अथवा सामाजिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय समस्याएँ न हों वह ध्येयच्युत होगा। यों तो प्रेक्षागृह का किसी धर्म अथवा नीति से प्रत्यक्ष संबंध नहीं है, किंतु यदि धर्म और नीति के यह अर्थ है कि हमारा चरित्र उनके द्वारा दृढ़ बने, हम जीवनसंग्राम में सफल हों एवं हममें सद्भाव उत्पन्न हो तो नाटक में धर्मादि का समावेश सर्वथा अपेक्षित है। अतः नाटक द्वारा ज्ञान प्राप्त होना, सत्-असत्, शुभ-अशुभ का विवेचन होना, एवं जीवन की जटिल समस्याओं का समाधान होना आदि सभी तो उसके प्रसाद गुण हैं।

नाटक और सिद्धांत प्रतिपादन

किंतु इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि नाटक में धर्म और नीति का प्रत्यक्ष प्रतिपादन होता है। क्योंकि तब तो नाटक का प्रसादगुण, उसकी आनंद प्रदान करने की शक्ति आघात पाकर नष्ट हो जायगी। यही विभिन्नता नाटक को शास्त्र से पृथक करती है। नाटककार तो जीवन का निरूपण करता है और धर्म तथा नीति जीवन की आधारशिलाएँ हैं अतः जीवन-प्रदर्शन में धार्मिक एवं नैतिक सिद्धांत तो स्वतः ही प्रतिपादित हो जायँगे। अभिनवगुप्त ने इस प्रश्न पर पूर्ण प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा है कि नाटक गुरुवत् उपदेश कभी नहीं करता, हाँ ज्ञान की

वृद्धि अवश्य करता है ।[1] इसी प्रकार गैल्सवर्दी के शब्दों में 'पात्र तथा घटनाओं का व्यूहन स्वयं किसी सिद्धांत का परिचायक होता है । कलाकार का काम तो इसी से चल जाता है कि कथानक गुंफन द्वारा मनोवांछित सिद्धांत स्वयं प्रतिपादित हो जाय ।'[1] उदाहरणतः जीवन का यह एक तथ्य है कि सुखदुःख अन्योन्याश्रित हैं अतः दुःख से पलायन की अपेक्षा उसे भोगने में अधिक सुख प्राप्त होता है—इसी सिद्धांत को शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' में प्रदर्शित किया है ।[2] इसी प्रकार नारी को जीवन की वास्तविक सहगामिनी न समझने में दांपत्य जीवन दुखद और भयावह होता है, इस बात का चित्रण नार्वे के प्रसिद्ध नाटककार इब्सन ने 'डोल्स हाउस' में किया है । तात्पर्य यह कि नाटककार को प्रत्यक्ष उपदेश देने की आवश्यकता नहीं पड़ती । इस संबंध में गार्डन क्रेग के ये विचार उल्लेख्य हैं कि 'रंगमंच गिरजाघर का मंच नहीं है ।······वह तो लोकोत्तर स्थान है । राजनीति, विज्ञान, धर्म तथा व्यवसाय, इनके द्वारा दुःखद परिस्थितियों की उत्पत्ति समुचित है, किंतु इनका कला में निरोध है—यह हम क्यों नहीं समझ पाते ? उसका जन्म सुगमता तथा आनंद से ज्ञान प्रदान करने के लिए हुआ है । वह भी प्रचार के लिये नहीं, अपितु शुष्क नीरस मस्तिष्क को सरस बनाने के लिये हुआ है । वास्तव में उपदेश तथा सिद्धांत प्रतिपादन के लिये शास्त्र क्या कम है ?'

१—ननु किं गुरुवत् उपदेशं करोति ? नेत्याह, किंतु बुद्धि विवर्धयति—
अभिनव-भारती प्र० अध्याय का० ११४ टीका ।

२—सम प्लाटीच्यूड्स कंसर्निंग ड्रामा—गाल्सवर्दी ।

३—सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम् ।
सुखात्तु यो याति नरोदरिद्रताम् धृतः शरीरेण मृतः सजीवति।

फिर अनुभव तो यह बताता है कि उपदेश केवल मानव मस्तिष्क तक ही पहुँच कर रह जाते हैं, हृदय को अथवा भावनाओं को स्पर्श करने में बहुधा वे असमर्थ ही रहते हैं, जब कि भाव परिवर्तन ही आवश्यक है। भावों को प्रभावित एवं परिवर्तित करने में ही नाटक की शक्ति का रहस्य निहित है। मनोवैज्ञानिकों की यह धारणा ठीक ही है कि 'आचरण के लिये नैतिक भावों का आह्वान व्यर्थ है। नैतिक भाव सरीखी वस्तु का कोई अस्तित्व ही नहीं है। इसके लिये तो हमें घृणा, पलायन, अहंकार आदि प्रवृत्तियों की सहायता लेना आवश्यक है। किसी कुप्रवृत्ति से छुटकारा पाने के लिये किसी विरोधी प्रवृत्ति को उद्दीप्त करना ही शुभ है।'[1]

उपदेशात्मक साहित्य की अमान्यता

किंतु इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि नैतिक सिद्धांत की कोई उपादेयता नहीं है। वस्तुतः नियंत्रण बिना समाज में कोई भी सुरक्षित नहीं रह सकता। केवल प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर चलने में उस भयावह परिस्थिति का जन्म होगा जिसमें सहवासियों के ही नहीं अपनी आत्मा तक के रक्त से हाथ रंग बैठना होगा। इसीलिये डंविल का कथन है 'इतना अवश्य है कि प्रवृत्तियों की स्वच्छंदता विनाशकारी है, किंतु कठोर नियंत्रण भी भयानक है। अस्तु, उपदेश नहीं संसूचन चाहिए, दमन नहीं संचालन चाहिए। किंतु यह ध्यान रहे कि यदि मानवीय शक्ति की जलधारा का उपयोग करना हो तो नियंत्रण आवश्यक है।'[2] इसी प्रकार का

नैतिक सिद्धांत और जीवन

१—मैक्डूगल—आउटलाइंस आव् साइकालाजी।

२—डंविल—फंडामेंटल्स आव् साइकालाजी।

संसूचन, शुभ को ज्योतिर्मय करके, अशुभ को तिमिराच्छन्न करके, नाटक प्रदान करता है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि नाटककार अपनी रचना द्वारा जीवन को अभिव्यक्त करता है और उसी के द्वारा प्रवृत्तियों को तुष्ट करके संतोष प्रदान करता है। उसी के द्वारा वह हमें जीवन के मौलिक सिद्धांतों का ज्ञान देता है–किंतु आघात द्वारा नहीं, वरन् हँसाकर, खेलाकर, रुला कर। इसी से हम सुसंस्कृत, परिष्कृत तथा विवेकी हुए हैं। इसी से हमारे आचार विचार, रहन सहन सभी शुभ एवं सुंदर बन पाए हैं।

नाटक के मौलिक तत्व

रूप और उद्देश्य के आधार पर ही किसी विशेष प्रकार की रचना के तत्वों का निश्चय किया जा सकता है। अतः उन्हीं के पृष्ठतल में हम मनोविज्ञान का सहारा लेकर नाटक के मौलिक तत्वों का विश्लेषण करेंगे। किंतु जब तक हम यह नहीं जान लेते कि भारतीय एवं पाश्चात्य परंपराओं ने किनको मौलिक तत्व माना है तथा उनमें किस प्रकार की भिन्नता है तब तक यह जानना सरल न होगा कि उनके पृष्ठतल में मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों की अवस्थिति है भी या नहीं ?

भारतीय शास्त्रानुसार वस्तु, नेता एवं रस नाटक के मौलिक तत्व माने गए हैं यद्यपि नाट्यशास्त्र में इनकी व्याख्या कहीं भी प्राप्त नहीं होती। हाँ, नाट्य संग्रह की तेरह विधियाँ अवश्य बतलाई हैं किंतु उसमें भी वस्तु, नेता तथा रस का उल्लेख नहीं मिलता है।[1]

भारतीय मत

प्रकरण के अंतर्गत वस्तु, नेता और रस का विवेचन अवश्य हुआ है परंतु इन तीनों के अतिरिक्त संगीत, नृत्य तथा प्रेक्षागृह आदि की भी विशद व्याख्या मिलती है। भरत मुनि के अनंतर दसवीं शती तक अन्य शास्त्रकारों ने भी केवल परंपरा का निर्वाह किया है और मौलिक तत्वों के निरूपण का कोई प्रयास नहीं किया है। हाँ, १० वीं शती में धनंजय कृत 'दशरूप' में एक कारिका ऐसी मिलती है जिसमें ये तीनों

१—रसा भावाह्यभिनयाः धर्मीवृत्ति प्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रंगश्च संग्रहः ॥१०॥
उपचारस्तथा ।वप्रा मण्डपाश्चेति सर्वशः।
त्रयोदश विधोह्येषह्यादिष्टो नाट्य संग्रहः ॥ ११—नाट्यशास्त्र अ० ६

एकत्र देख पड़ते हैं। संभवतः इसी आधार पर साहित्यमर्मज्ञों ने तीनों को भारतीय मतानुसार नाटक का तत्व मान लिया है। किंतु 'दशरूप' अथवा धनिककृत दशरूपावलोक टीका के पठन से इस विचार में संदेह होता है। धनंजय की कारिका तो केवल इतनी ही है—'वस्तु नेता रसस्तेषां भेदको'[1] इस पर टीका करते हुए धनिक ने कहा है कि वस्तु, नेता तथा रस के भेद से रूपक के भेद होते हैं।[2] और यह कथन नाटकों के विभिन्न रूपों से सिद्ध भी होता है। यथा वस्तु के आधार पर नाटक और प्रकरण (प्रथम में प्रख्यात कथावस्तु तथा द्वितीय में कल्पित), नेता के आधार पर प्रकरण और भाण (प्रथम में धीर शांत और द्वितीय में धूर्त), तथा रस के आधार पर अंक और वीथी (प्रथम में करुण और द्वितीय में शृंगार) रूपक विभेद हुए हैं। अतः इस कारिका से यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि केवल वस्तु, नेता और रस ही नाटक के त्रितत्व हैं।

रस : साध्य

फिर ध्यान देने से यह वर्गीकरण युक्तिपूर्ण भी नहीं जान पड़ता। वस्तु और नेता तो अवश्यमेव तत्व हो सकते हैं किंतु रस तो साध्य है, साधन नहीं। उसकी अनुभूति तो अभिनय देखकर भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव द्वारा ग्रहण की जाती है और इन भावादि के आधार पर नाटक के तत्व स्वयं होंगे–वस्तु, पात्र, अभिनय और रंगमंच आदि। वस्तुतः संस्कृत शास्त्रों के आधार पर वस्तु, पात्र (नायक, प्रतिनायक, नायिका तथा व्यवसायी) संगीत, नृत्य, वृत्ति तथा प्रेक्षागृह और रंगमंच माने जा सकते हैं, क्योंकि इन्हीं का न्यूनाधिक विवेचन सभी नाटक संबंधी पुस्तकों में प्राप्त होता है। इन्हीं के साथ

---

१ – प्रथम प्रकाश–कारिका ११।

२—वस्तुभेदान्नायकभेदाद्रसभेदाद्रूपाणामन्योन्यं भेद इति।

रस का भी विवेचन अवश्य मिलता है किंतु साध्य रूप में। अतः उपर्युक्त तत्वों को मानकर हम यहाँ उनका संक्षिप्त विवेचन करते हुए रस की व्याख्या करने का प्रयत्न करेंगे।

वस्तु की परिभाषा न तो स्पष्टतः नाट्यशास्त्र में मिलती है न दशरूप में और न नाट्यदर्पण में ही। दो भेद अवश्य गिनाए गए हैं—

'वस्तु च द्विधा।

वस्तु

तत्राधिकारिकं मुख्यमंग प्रासंगिक बिंदुः।'[1]

इस विभेदन के आधार पर हम कह सकते हैं कि नाट्यशास्त्र के अनुसार वस्तु से आशय उस संपूर्ण कथा से है जो रंगमंच पर प्रदर्शित, सूचित तथा संकेतित की जाती है।

'कहानी' के मूलतः दो अंग हैं—आधिकारिक (जिसका नाटक से स्पष्ट संबंध होता है) और प्रासंगिक (प्रथम की सहायक-मात्र होती है)।

वस्तु के अंग और विषय भेद

विषय पक्ष में भी वस्तु के दो भेद हैं—प्रख्यात, जिसके आधार इतिहास अथवा पुराण हैं यथा 'मुद्राराक्षस' और 'अभिज्ञान शाकुंतल' और कल्पित जो मूलतः नाटककार की कल्पना से उद्धृत होता है, यथा 'मृच्छकटिक'।

वस्तु के अन्य भेद

रंगमंच पर नाट्य होने के आधार पर कथावस्तु के तीन भेद हैं—दृश्य, जो पात्र द्वारा रंगमंच पर प्रदर्शित किए जाते हैं, सूच्य जो नीरस अथवा विस्तार सापेक्ष होने के कारण प्रदर्शित नहीं किए जाते, किंतु जिनकी सूचना मात्र चूलिका आदि से दी जाती है और दोनों के विपरीत कथावस्तु का वह भी अंग है जो अव्यावहारिक है अर्थात् जो न तो दृश्य ही है और न संसूच्य ही।

१—दशरूप - प्रथम प्रकाश—का० ११।

वस्तु के दृश्य अंग को 'अर्थ' कहते हैं। उसकी पाँच प्रकृतियाँ होती हैं—तीन आधिकारिक के अंतर्गत और दो प्रासंगिक के।

अर्थप्रकृति

आधिकारिक के मूलतः तीन अंश होते हैं—बीज, विंदु तथा कार्य। 'बीज' के द्वारा नाटक का मुख्य फल संकेतित होता है। 'विंदु' में फलप्राप्ति के निमित्त प्रयत्नशीलता होती है तथा 'कार्य' में फलप्राप्ति होती है। इसी प्रकार प्रासंगिक में भी पताका और प्रकरी हैं—'पताका' जो मूल-कथा के साथ निरंतर चलती है और 'प्रकरी' जो तरंग की भांति कथा सागर में उठती है और कुछ दूर तक जाकर शांत हो जाती है।

कथोपकथन के भेद

श्रव्यता के आधार पर कथोपकथन के तीन भेद माने गए हैं—सर्वश्राव्य (जिसे सभी पात्र सुन सकें), नियतश्राव्य (जिसे व्यक्ति विशेष ही सुन सके) तथा अश्राव्य जो स्वगत का पुरातन रूप है। इन भेदों से यह विदित होता है कि कथोपकथन भी नाटक का एक मुख्य तत्व है।

नेता

नेता ही पात्रों में मुख्य होता है, उसी के द्वारा फल-प्राप्ति कराने के लिए नाटक की रचना होती है। किंतु नेता के प्रसंग में यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या नाटक में फल प्राप्ति अनुपेक्षणीय है ? अथवा क्या नेता के लिए फल प्राप्त करना आवश्यक है, क्या उसे कभी-कभी विफलता नहीं प्राप्त हो सकती ? सिद्धांत रूप में तो इस प्रश्न पर शास्त्रकारों ने ध्यान नहीं दिया है, प्रत्येक ने कार्य की सिद्धि को आवश्यक माना है क्योंकि अवस्था, संधि, अर्थप्रकृति सभी में कार्य के संपादन का आग्रह है। भरतमुनि ने यद्यपि अष्ट रसों में 'करुण रस' का प्रतिपादन किया है, और नाटक के वर्गीकरण में

'अंक' का उल्लेख भी किया है जिसमें साध्य करुण रस है किंतु रस को आनंदमय सिद्ध करने के प्रयास में करुण का संचारी भाव की भाँति प्रयोग किया है क्योंकि इनके मतानुसार तो विप्रलंभ शृंगार में ही करुण का प्रयोग होता है और विप्रलंभ का स्थायी भाव है 'रति'। भरतमुनि द्वारा फल प्राप्ति का निश्चय माना जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि उनके समय तक जितने नाटकों का प्रणयन हुआ था वह सुखांत ही नहीं अपितु सुखात्मक भी थे। किंतु धनंजय, शारदातनय एवं रामचंद्र के समय तक भवभूति के 'उत्तर-रामचरितम्' की सृष्टि हो चुकी थी, जिसमें फलप्राप्ति की रेखा अत्यंत क्षीण है। अतः प्रश्न यह उठता है कि क्या इन प्राचीन शास्त्रकारों को इसका आभास भी न हुआ कि ऐसी भी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है जिसमें नायक को फलप्राप्ति में विफलता ही हाथ लगे? इस प्रश्न का उत्तर हमें डा० रामकुमार वर्मा के इस कथन में प्राप्त होता है 'नाटक सभी परिस्थितियों में सुखांत होगा क्योंकि दक्ष, प्रियवंद और धार्मिक नायक की पराजय समाज में अनीति और अन्याय का मार्ग प्रशस्त करेगी। अतः समाज की व्यवस्था के लिए सत्य की विजय को दिखलाना अभीष्ट है।'[1] यही कारण है कि नाट्यदर्पणकार रामचंद्र ने रस को सुख-दुखात्मक मानते हुए भी फलप्राप्ति को निश्चय माना है। परंतु सफलता को नित्य मानने में हमें 'ईहामृग' एवं 'अंक' की नाईं उन नाटकों को पृथक कर देना होगा जिनके अंत में फलप्राप्ति नहीं होती।

नेता, मुख्य पात्र होता है अतः फल प्राप्ति सिद्धांत के प्रतिपादनार्थ उसको सर्वगुणसंपन्न होना चाहिए अन्यथा फल प्राप्ति में संदेह की स्थिति उत्पन्न हो जायगी। इसीलिए नाट्यशास्त्र में प्रत्येक

१—'रेशमी टाई' की भूमिका से – पृ० १६।

नायक में बाईस गुणों का होना आवश्यक माना है — किंतु ऐसा नायक केवल नाटक या प्रकरण का ही होगा, अन्य प्रकार के रूपकों के नायकों पर यह प्रतिबंध नहीं है—यथा भाण तथा प्रहसन का नेता क्रमशः धूर्त और पाखंडी होता है। नाटक और प्रकरण के नेताओं को सर्वगुण संपन्न बनाने का विधान होने के कारण ही उनमें व्यक्ति-वैचित्र्य का समावेश शास्त्रानुसार नहीं हो सकता था।

नेता

प्राचीन नाटकों में पात्रों का बाहुल्य न था। जो होते भी थे वे किसी न किसी रूप में 'नेता' से संबंधित थे, उनका स्वयं कोई व्यक्तित्व न था। नायिका की प्राप्ति में नायक संलग्न होता था, विदूषक उसकी छाया होता था और पीठमर्द तथा व्यवसायी फल-प्राप्ति में सहायक होते थे। 'दशरूप' में प्रतिनायक का भी उल्लेख है जो सदा लुब्ध, उद्धत, स्तब्ध, पापी एवं व्यसनी होता था—यथा 'मृच्छकटिक' का 'शकार'। यहाँ भी फलप्राप्ति की उत्सुकता लक्ष्य थी, अन्यथा प्रतिनायक के विनाशकारी अवगुणों की इतनी लंबी सूची न होती।

पात्र-संख्या न्यून

संगीत तथा नृत्य का विशद विवेचन नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में हुआ है। पूर्वरंग के अतिरिक्त नृत्य तथा संगीत का उपयोग प्रकरणानुसार नाटक के मध्य में भी होता था। किंतु पात्र द्वारा पद्यपाठ में संगीत वर्जित था। संगीतकारों के बैठने का स्थान रंगशीर्ष में होता था, और वहीं से वे 'आवोद्यादि' बजाते थे।

संगीत और नृत्य

१—स्थायीभावः श्रितोत्कर्षो विभाव व्यभिचारिभिः।
स्पष्टानुभावनिश्चेयः सुख दुःखात्मको रसः॥
—नाट्यदर्पण विवेक ३, का० १०९।

वृत्ति का वास्तविक संबंध शैली से है और समीक्षाशास्त्र ने रचना के प्रमुख तत्वों में शैली को स्थान दिया है। अतः वृत्ति की संक्षिप्त व्याख्या इस स्थान पर असंगत न होगी।

वृत्ति

वृत्ति का आशय वस्तुतः भावप्रदर्शन-प्रणाली से है क्योंकि इसके अंतर्गत भाषा तथा चेष्टाएँ दोनों होती हैं। भारती वृत्ति के अतिरिक्त अन्य वृत्तियों का अभिन्न संबंध रस से है, और उसी की परिपुष्टि के लिए तीन प्रमुख रसों के लिए तीन वृत्तियाँ निश्चित की गई हैं। वीर रस में सात्वती वृत्ति का प्रयोग होता है जिसकी विशिष्ट क्रियाएँ संलापक, उत्थापक और सांघात्यादि हैं। इसी प्रकार रौद्र में आरभटी का, जिसकी क्रियाएँ संक्षितिका, संफेट, अवपात आदि हैं तथा शृंगार में कैशिकी का जिसकी चेष्टाएँ नर्म, नर्म स्फूर्ज, नर्म-स्फोट एवं नर्म गर्भ होती हैं। भारती वृत्ति केवल वाक्शक्ति थी, अतः सभी रसों में इसका प्रयोग किया जाता है।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि भरतमुनि के अनंतर किसी भी शास्त्रकार ने प्रेक्षागृह अथवा रंगमंच की विवेचना नहीं की। अभिनवगुप्त ने भी केवल टीकाकार की भाँति व्याख्या कर दी है जिससे यह विदित नहीं हो पाता कि नाट्यशास्त्र वर्णित रंगमंच में उनके समय तक कोई अंतर आया था अथवा नहीं।

रंगमंडप

तथ्य तो यह है कि यदि नाटकों का अभिनय होता था, तो रंगमंच में समयानुसार परिवर्तन आना संभव था परंतु विषय विशेष के प्रति उदासीनता के कारण इस संबंध में हमें कुछ भी पता नहीं चलता। इधर रामगढ़ पहाड़ी पर (सरगुजा में) सीतावेंगी नामक कंदरा में 'सुतनुका' नर्तकी द्वारा निर्मित प्रेक्षागृह के सदृश भवन के अवशेष प्राप्त हुए हैं।[१]

१—इंडियन आर्किओलाजिकल रिपोर्ट – १९०३–४।

जिसका अर्ध गोलाकार सोपानवत् बैठने का स्थान देखकर अंग्रेजी लेखकों ने उसका ग्रीक प्रेक्षागृह के आधार पर निर्मित होना निश्चय कर लिया है। किंतु वह इस अवस्था में मिला है कि किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचना न्यायसंगत न होगा। इसका पूर्ण विवेचन हम आगे प्रेक्षागृह प्रकरण में करेंगे। अस्तु, यहाँ पर हम केवल यह बतलाना आवश्यक समझते हैं कि नाट्यशास्त्र के आधार पर किस प्रकार के रंगमंडपों की कल्पना की जा सकती है।

भरतमुनि के दूसरे अध्याय में तीन प्रकार के मंडप तथा प्रत्येक की तीन कोटियाँ बतलाई हैं। किंतु अनुशीलन से यह निश्चय हो जाता है कि जनता के लिए साधारणतः मध्य श्रेणी का चतुरस्र मंडप उपयोग में लाया जाता था। इसका प्रसार चौसठ हाथ लंबा तथा बत्तीस हाथ चौड़ा था। इसके दो भाग थे–एक अर्धसोपानाकार जिसमें प्रेक्षक बैठते थे। दूसरे अर्ध के दो भाग थे–पीछे के भाग में नेपथ्यगृह था और अग्रभाग में दो खंड थे–नेपथ्य-गृह का पार्श्ववर्ती भाग रंगशीर्ष कहलाता था जिसमें से नेपथ्यगृह में जाने के लिए दो द्वार थे। भित्तियाँ चित्रलिखित होती थीं जिन्हें रंगपीठकी पीठिकाके रूपमें प्रयुक्त किया जाता था। रंगशीर्ष में संगीतकार बैठते थे, उसी के आगे रंगपीठ था और वहीं अभिनय होता था। इसमें कक्षाएँ होती थीं और ये विभिन्न कक्षाएँ वन, प्रासादादि के दृश्य दिखाने के उपयोग में आती थीं। कुछ विद्वानों का मत है कि रंगपीठ के दोनों ओर निर्मित मत्तवारिणी ही कक्षा की भाँति व्यवहार में लाई जाती थीं किंतु इनकी संख्या केवल दो ही थी और नाटकों में अनेक प्रकार के दृश्यों का विधान होता था, अतः उनका यह विचार संगत नहीं प्रतीत होता।

नाट्यशास्त्रानुसार मंडप

प्रेक्षागृह की अग्रिम पंक्ति से रंगभूमि डेढ़ हाथ ऊँची, और

पृष्ठतम पंक्ति के समतल होती थी। प्रत्येक जाति के लोगों के बैठने के लिए निर्धारित पंक्तियाँ थीं। प्रेक्षागृह तथा रंगमंच के उपकरणों को देखकर यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि प्राचीन रंगमंच अत्यंत विशद, भव्य एवं मनोवैज्ञानिक प्रणाली पर निर्मित था। इसमें केवल अंतःपटी का अभाव था अन्यथा सभी साधन प्रस्तुत थे। किंतु, आगे चलकर, कालिदास के युग में, 'विक्रमोर्वशी' नाटक में दृश्यांतरों का विधान भी दिखाई देता है, और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कालिदास के समय तक अंतःपटियों की भी व्यवस्था हो गई थी अन्यथा दृश्यांतर संभव न होता।

प्रेक्षागृह के उपकरण

भारतीय मतानुसार रसास्वादन पर ही नाटक की सफलता निर्भर थी और हम इस विषय पर प्रकाश डाल चुके हैं कि रस, वस्तुतः नाटक का तत्व नहीं है अपितु प्रभाव रूप में लक्ष्य अवश्य है। किंतु यह जानना आवश्यक है कि रस है क्या और उसकी उत्पत्ति के साधन क्या हैं? यों तो इसकी सदा से व्याख्या होती आई है, पर इसके संबंध में प्रचुर मतमतांतर है और उनमें पारस्परिक विभिन्नता इतनी अधिक हैं कि उनके आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना असंभव है। हाँ, एक बात सभी मानते हैं कि रस एक विशिष्ट भावना है जो विशेष-वस्तु के निरीक्षण तथा भावानुवाद द्वारा उद्भूत होती है और जिसमें एक प्रकार के उल्लास, स्फुरण तथा आत्मोत्थान की अवस्थिति होती है। आचार्य केशवप्रसाद मिश्र के शब्दों में यह 'चित्त की वह विशेषावस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती।...जब शोक, क्रोध, जुगुप्सा आदि से उत्पन्न दीप्ति मिट जाय, जब विस्मय, हास, भय आदि से उत्पन्न विक्षेप भी न रहे, उस समय आवरण हटाकर रति आदि भावों के आकार में भासमान आंतरिक

रस

ज्योति के जग उठने पर जो सहृदय पुरुष की आर्द्रता होती है, जो अश्रुप्रवाह या पुलकावलि का संचार हो उठता है, वही तो चित्त की द्रुति है। यह भी रसानुभूति की अवस्था है।"[1]

वास्तव में किसी कर्मस्पर्शी काव्य पंक्ति को पढ़कर अथवा किसी सुंदर अभिनय को देखकर हृदय में विशिष्ट प्रकार की पुलक होती है, हम सौंदर्यास्वादन में सुध-बुध खोकर इतने तन्मय हो जाते हैं कि स्थूल परिस्थिति का ज्ञान भी नहीं रह जाता। यही रसानुभूति की चरमावस्था है।

रस और मनोविज्ञान

किंतु इस अवस्था के स्पष्ट बोध के लिये हमें अपनी मनोवैज्ञानिक अवस्थिति से परिचित होने की आवश्यकता है। तभी हमें भाव, संचारी भाव एवं स्थायी भाव के रूप का स्पष्ट ज्ञान हो सकता है और तभी हम यह भी जान सकते हैं कि किस प्रकार इनको विभाव एवं अनुभाव से संयुक्त कर देने से रस निष्पत्ति होती है।

मन के व्यापार

प्ररोचन (कंसेप्शन) संसक्ति (हार्मिक) तथा अविनाश (नेमे) ये तीन मन की क्रियाएँ हैं। इन्हीं तीनों द्वारा हम अनुभव करते हैं एवं उन अनुभव को सुरक्षित रखते हैं। वास्तव में संचित अनुभव ही विशिष्ट भाव उत्पन्न करता है क्योंकि भावोत्पत्ति विकल्पात्मक क्रिया द्वारा ही होती है—यथा अनुभव का उद्भूत होना, उसी अनुभव द्वारा किसी विशिष्ट भाव का उदय होना तथा उसका कुछ काल तक स्थिर रहकर स्थायी भाव बन जाना। यहाँ यह भी विचारणीय है कि 'अनुभूति अथवा संवेदन वह मानसिक

१—मेघदूत की भूमिका से।

प्रवृत्ति है जो केवल स्थूल वस्तु के देखने से ही उद्भूत नहीं होती अपितु अन्य किसी में उदित विशिष्ट सूक्ष्म भाव को भी देखकर होती है।'[1] इसी विकल्पात्मक क्रिया का प्राथमिक रूप मूर्तवस्तु की भावना है और अमूर्त वस्तु की भावना उसी का सुसंस्कृत रूप है।

अस्तु, हम भाव को किसी मूर्त अथवा अमूर्त वस्तु के प्रति अनुभव-जनित विशिष्ट एवं स्थायी अनुभूति से परिभाषित कर सकते हैं।[2] पर

भाव, विभाव और अनुभाव

भावोदय के पूर्व वस्तु एवं परिस्थिति का होना आवश्यक है। इसी को हम क्रमशः आलंबन और उद्दीपन विभाव कहते हैं एवं आलंबन की प्रत्यक्ष चेष्टाओं तथा मुद्राओं को अनुभाव मानते हैं।

उपर्युक्त क्रियाओं के फलस्वरूप कुछ अनुभूतियाँ हमारे भाव का केंद्र बन जाती हैं और उनकी सतत उत्पत्ति हृदय में एक विशिष्ट

स्थायीभाव

प्रकार की भावना की स्थापना करती है जिसे हम स्थायी भाव (सेंटीमेंट्स) पुकारते हैं। निःसंदेह अंतःक्षोभों का संगठन ही स्थायी भाव को जन्म देता है क्योंकि बिना पूर्व संगठन हुए न तो किसी भाव के प्रति आकर्षण ही होगा, और न बिना अवधान तथा रुचि के भाव विशेष ही हृदयस्थित हो सकेगा। इन्हीं अंतःक्षोभों के पूर्व संगठन को निष्णात पंडितों ने अपनी चामत्कारिक भाषा में 'सहृदयता' कहा है, जिसके अनुभवसिद्ध मुख्य साधन हैं क्रियाएँ, कथानक, अनुकरण तथा उनसे उत्पन्न अनुभव। वास्तव में सहृदयता पर ही स्थायीभाव की ग्राहकता अवलंबित है। इसीलिए चोर को निविड़तम अंधकार सुखद

१—डंबिल – फंडामेंटल आव् साईकालोजी।

२—एम सी. डूगाल – आउटलाइंस आव् साईकालोजी।

और धनिक को भयावह लगता है। इन्हीं अंतःक्षोभों के पूर्वार्जित भांडार को मनोवैज्ञानिक अंतर्बोध (एप्रिसेप्टिव मास) कहते हैं जिसका सहज गुण है क्षण-प्रतिक्षण की परिवर्तनशीलता। नित्य के अनुभव इसको बनाते बिगाड़ते और रूपांतरित करते रहते हैं।

रसनिष्पत्ति

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि जिस स्थायीभाव के उद्भूत होने पर रसानुभूति होती है वह स्वयं विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव (तरंग की भाँति उठकर विलीन होने वाले क्षणिक भाव) पर आश्रित है। नाटककार प्रेक्षक के हृदय में इसी स्थायीभाव को उद्दीप्त करने का प्रयास करता है। वह सुंदर वस्तु, भाव एवं क्रियाओं की अभिव्यंजना करके, तन्मयता की स्थिति उत्पन्न करके प्रेक्षक को उस ऊँचे धरातल पर ले जाता है जहाँ अस्तित्व की अनुभूति मिट जाती है तथा सात्विक अनुभूति के वशीभूत होकर प्रेक्षक 'मधुमती भूमिका' में विचरण करने लगता है। इसीलिए 'उत्तर रामचरितम्, की करुण आर्द्रता तथा 'विक्रमोर्वशी' की शृंगार-मंजुलता में आनंदमयी अनुभूति का समावेश है, एक आह्लाद है। यही तो मनोवृत्ति की तुष्टि का नित्य गुण है और इसे ही काव्यानंद कहते हैं।

साधारणीकरण

इतना अवश्य है कि जिस स्थायी भाव को स्थापित करने का नाटककार प्रयास करता है उसका सर्वमय (यूनिवर्सल) होना अनुपेक्षणीय है। अन्यथा उसकी ग्राहक शक्ति को आघात पहुँचने से तन्मयता की रेखा क्षीण हो जायगी। वस्तुतः वही भाव सरलता से बोधगम्य होंगे जो पूर्वार्जित अंतर्क्षोभों से तादात्म्य स्थापित कर सकें, और उसकी अवस्थिति तभी हो सकती है जब कि वस्तु से संबंध और संबंधी की प्रतीति मिट जाय। यही भट्टनायक का 'भोजकत्व' है। जब तक किसी भाव को इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह

सामान्यतः सबके उसी भाव का आलंबन हो सके, उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।[1] मम्मट की धारणा है कि रसानंद की प्राप्ति तभी हो सकती है जब कि यह मेरा है, अथवा मेरे प्रतिद्वंद्वी का है, अथवा किसी अन्य का है आदि की प्रतीति मिट जाय।[२] अर्थात् जब तक शकुंतला अपना अस्तित्व त्यागकर किसी बनवासिनी सुयौवना के अर्धविकसित सौंदर्य से प्रेक्षक को तन्मय नहीं कर देती तब तक दर्शक अपने अंतर्बोध के आधार पर न उससे पूर्णतः अनुभूत होता है न रसानंद की चरमावस्था प्राप्त करता है। इस मनोवैज्ञानिक अवस्थिति की संभावना सर्वमयता के ही आधार पर की जा सकती है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने रस प्रतिपत्ति के पूर्व समस्त प्रेक्षकों की सहृदय हृदयस्थ वासना के साथ समभाव होना आवश्यक माना है।[3] तात्पर्य यह कि पाठक में सहृदयता का होना उतना ही आवश्यक है जितना कि नाटक में सौंदर्य-भावना का।

प्लेटो का भी कथन था कि सुंदर वस्तु के निरीक्षण से आत्मा में सौंदर्य भावना भर उठती है। उसी के द्वारा सुंदरता की मानसिक तुला बन जाती है और हमारी रुचि का संस्कार होता है। फिर इसी सुस्वस्थ रुचि से प्रेरित होकर हम असुंदर तथा अशुभ से स्वभावतः

१—आचार्य रामचंद्र शुक्ल – चिन्तामणि से।

२—विभावनादिव्यापारत्वादलौकिक विभावादि शब्दव्यवहार्यैः ममैवैते-शत्रोरेवैतेतटस्थस्यैवैते न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति संबंधविशेष स्वीकार परिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैः अभिव्यक्तः······। चतुर्थ उल्लास – काव्य प्रकाश।

३—अतः सर्व सामाजिकानामैकधनतैव प्रतिपत्तेः सुतरां रसपरिपोषाय सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसावासनासंवादात्। सायमविघ्ना संवित्। अभिनवभारती।

घृणा करने लगते हैं। इसीलिये रॉस ऐसे मनोवैज्ञानिकों ने शिक्षा का मुख्य साधन सुंदर वस्तुओं का निरीक्षण करना बतलाया है।[1]

अतः उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक आधार पर भरत मुनि के इस सूत्र

तत्रविभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः-

का विवेचन करने पर कोई अबुध अथवा आडंबरपूर्ण बात लक्ष्य नहीं होती। फिर भी डा० कीथ ने यह कह डाला कि 'रस सिद्धांत में शाब्दिक आडंबर है, अष्ट भावों का संग्रह उनके द्वारा संचारी भावों का अधिकृत होना एवं अनुभाव का प्रतिपादन, केवल पांडित्य प्रदर्शन के लिए किया गया है, न तो उनकी व्याख्या ही हुई है न तो युक्तिपूर्ण सिद्ध ही किए गए हैं।'[2] यह कथन नाट्यशास्त्र के संबंध में लागू भी हो किंतु अभिनवगुप्त आदि के सिद्धांतों के प्रति अनुपयुक्त है। जान पड़ता है कि भट्टलोल्लट के 'उत्पत्तिवाद' एवं चित्रतुरंग न्याय स्थित शंकुक के 'अनुमितिवाद' तक पहुँच कर ही वह लौट पड़े, अन्यथा भट्टनायक का 'भुक्तिवाद' शब्दाडंबर नहीं वरन् पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है। फिर 'अभिव्यक्तिवादी' अभिनवगुप्त ने तो रस-सिद्धांत को इतना स्पष्ट और सरल कर दिया है कि बोध की दुरूहता की संभावना तक नहीं रह जाती। अभिनवगुप्त ने संयोग से अभिव्यक्ति का आशय लिया है और निष्पत्ति से आनंदरूप में प्रकाशित होना माना है। नट-नटी द्वारा अभिव्यंजित भाव आदि उसके स्थायी भाव को उद्बुद्ध करके संतोष प्रदान करते हैं और यही भावसाम्य आनंद का स्रोत है। इसी से सात्विक भाव उत्पन्न होता है जिसको पंडितराज जगन्नाथ ने अंधकार का आवरण हट जाना कहा है।[3] धनंजय ने भी सहृदय

१—ग्राउंड वर्क आव् एजुकेशनल साईकालोजी।

२—द संस्कृत ड्रामा इन इट्स ओरिजिन, डेवलपमेंट, थ्यौरी एंड प्रैक्टिस

३—'भग्नावरणाचित्' – रसगंगाधर।

प्रेक्षक में स्थायीभाव की अवस्थिति मानी है।[1] धनिक ने सत्व की व्याख्या 'सत्वं नाम मनसप्रभवं' (अर्थात् आंतरिक भाव) से की है।

निःसंदेह रससिद्धांत शब्दाडंबर नहीं, मनोवैज्ञानिक तथ्य है तथा उसी स्तर पर यह भी विचारणीय है कि व्यक्तिवैचित्र्य का रस से क्या संबंध है ? वह रस का साधन है अथवा प्रतिद्वंदी ? व्यक्तिवैचित्र्य, वस्तुतः व्यक्ति की असाधारणता को कहते हैं और यही असाधारणता तथा अद्भुतता मानव को प्रिय होती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि बिना विचित्रता के चाहे वह भावसंबंधी, वस्तुसंबंधी, व्यक्तिसंबंधी अथवा घटनासंबंधी हो, काव्य में आकर्षण होना संभव नहीं है। किंतु यह असाधारणता ऐसी कदापि नहीं होती जो हमारे हृदय को स्पर्श न कर सके अथवा हममें भाव का संचार न कर सके। यही कारण है कि काव्य में सदा से अलौकिकता की ओर ध्यान दिया गया है। 'शकुंतला' अथवा 'वासवदत्ता', 'वसंतसेना' अथवा 'मालविका' का व्यक्तित्व साधारण नहीं है, इतना ही नहीं 'मुक्ति का रहस्य' की 'आशादेवी' भी व्यक्ति वैचित्र्य की मूर्त है। इसी प्रकार पाश्चात्य साहित्य में भी शेक्सपीयर के 'हेमलेट' और 'ओथेलो', इब्सन की 'नोरा', मैटरलिंक की 'मेलिसेंडा' में तो मानो व्यक्तिवैचित्र्य उतर ही आया है। फिर भी हमारे हृदय में गुदगुदी उत्पन्न करते हैं, हमारे भावों को विलोड़ित करते हैं अतः व्यक्ति वैचित्र्य रसानुभूति में सहायक ही है, विरोधी नहीं।

रस और व्यक्तिवैचित्र्य

१—विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः ।।
चतुर्थ प्रकाश — का० १ ।

अब यह विचारणीय है कि हम व्यक्तिवैचित्र्य का उपयोग किस रूप में करते हैं – साधक के अथवा साध्य के रूप में। क्योंकि केवल व्यक्तिवैचित्र्य के प्रदर्शनमात्र से काव्यसृष्टि हृदय को स्पर्श नहीं कर सकती, बुद्धि से आँखमिचौनी अवश्य खेल सकती है। तब हम 'तन्मयीभूत' होकर अपने भावों को जागरित ही कब कर सकते हैं। यही कारण है कि मिश्र जी के प्रसिद्ध नाटक 'सिंदूर की होली' की प्रमुख नारी पात्र 'मनोरमा' एवं 'चंद्रकला' में हम विश्वास नहीं कर पाते। उनमें व्यक्तित्व प्रदर्शन की वह उड़ान है कि हम आँख मलते हैं और अपने से पूछते हैं कि क्या ऐसा भी हो सकता है? ऐसे दृष्टांत अथवा चरित्र साधारणीकरण द्वारा हमारे हृदय से भावसाम्य स्थापित नहीं कर सकते और तब हमें उनके काव्यांग होने में संदेह होने लगता है। काव्य में मनोरमता अपेक्षित है। यही मन को रमाने की शक्ति ही उसे नीरस दर्शन तथा इतिहास से पृथक् करती है। ऐसे ही उदाहरणों से प्रभावित होकर हमारे प्रख्यात समीक्षकों ने व्यक्ति वैचित्र्य प्रदर्शन को व्यक्ति वैचित्र्यवाद कह कर एवं उसे पश्चिम की देन मानकर काव्य जगत् से बहिष्कृत कर दिया है। किंतु वास्तव में देखा जाय तो व्यक्ति वैचित्र्य रस को चमत्कृत ही करता है, हाँ, यदि वह भावशून्य होगा तो न केवल रसानंद में बाधक ही होगा अपितु कला के ध्येय से भी वह कोसों दूर चला जायगा।

•

रस सिद्धांत को सर्वोपरि मान लेने से हम कला को 'स्वांतः सुखाय' के उच्छृंखल अथवा भयानक परिणाम से सुरक्षित रख सकते हैं। और फिर रस (साध्य होने के कारण) का प्राण सर्वमयता है जिसका आस्वादन हमें साधारणीकरण द्वारा ही प्राप्त होता है। इसी सर्वमयता गुण के कारण 'अभिज्ञान शाकुंतल', देश काल की सीमा को लाँघकर आज भी आनंद प्रदान करता है। केवल तीक्ष्ण अनुभव देने वाले तथ्य आज भले ही रुचिकर हों और समयानंतर अतीत निर्देशक

भले ही रह जायँ, किंतु कला के उत्कृष्ट उदाहरण कदापि नहीं हो सकते।

युरोपीय नाटक समीक्षा का प्रारंभ अरस्तू की पोयटिक्स से हुआ है। उसके अनंतर कम से कम उन्नीस सौ वर्ष तक किसी स्वतंत्र समीक्षा की रेखा नहीं दिखाई पड़ती। ग्रीस में तो अरस्तू के समीक्षा शास्त्र से समीक्षा का प्रारंभ और अंत दोनों हो गया। इटली में भी

पाश्चात्य-मत

प्लाटस, टेरेंस और सेनेका ने नाटक प्रणयन द्वारा सिद्धांत प्रतिपादन किया भी तो अरस्तू से इतने प्रभावित थे कि अक्षरशः उसी को दुहरा दिया, किसी नूतन अथवा स्वतंत्र मत की स्थापना न की। तभी अकस्मात् ईसाई धर्म की धर्मांधता ने न केवल नाट्य समीक्षा ही अपितु नाटक प्रणयन को ही बंद कर दिया। लगभग सहस्र वर्षों तक नाटक मृतप्राय रहा और जब युरोप में पुनः स्वतंत्रता की भावना उद्बुद्ध हुई तब न केवल धार्मिक भावना में ही अपितु सामाजिक एवं कलासंबंधी सिद्धांतों में भी युगांतर का परिवर्तन आया। नाटक धर्म शृंखला से मुक्त होकर पुनर्जीवित हुआ और प्रतिक्रियास्वरूप उसकी धारा बहुमुखी होकर वेग से प्रवाहित हुई। वहीं से आधुनिक युग का प्रारंभ हुआ और सभी विकासोन्मुखी विचारधारा रूढ़ियों को अधिकाधिक नष्ट करके अरस्तू के मत से पृथक हो गई। पोयटिक्स का समर्थन करनेवाले यदा कदा ही समीक्षक रह गये। तात्पर्य यह कि पाश्चात्य दृष्टिकोण को समझने के लिए उसे दो भागों में विभाजित करना होगा—प्राचीन मत तथा आधुनिक मत।

उपर्युक्त मतों के अनुसार नाटक तत्वों का विवेचन करने से पूर्व यह कह देना अनुचित न होगा कि समीक्षा का प्रणयन रचना सृष्टि के अनंतर होता है और उसके सैद्धांतिक आधार के मूल में प्रायः पूर्व प्रणीत रचनाएँ ही होती हैं। नाट्यशास्त्र एवं पोयटिक्स दोनों ही

इस तथ्य को सिद्ध करते हैं। अतः प्रतिपादित सिद्धांतों का विश्लेषण करते समय हमें सामयिक के साथ पूर्व रचनाओं का भी ध्यान रखना आवश्यक है। डा० कीथ, नाट्यशास्त्र की समीक्षा करते समय इसी तथ्य की उपेक्षा कर बैठे हैं, इसीलिये आज के समीक्षक को उनकी बहुत सी बातें भ्रामक प्रतीत होती हैं।

प्राचीन मतानुसार छः तत्व—अरस्तू ने 'पोएटिक्स' में नाटक के छः तत्वों का उल्लेख किया है—कहानी, चरित्र, भाषा, विचार, रंगमंच तथा संगीत।

'कहानी'—नाटक मानव जीवन की कहानी है और जीवन स्वयं मानव क्रियाओं का समूह है, अतः नाटक में प्रख्यात मानव की क्रियाओं का प्रदर्शन आवश्यक है।[1] इसीलिए कहानी अनुपेक्षणीय तत्व हो जाती है।

चरित्र—चरित्र से केवल मानव क्रियाओं के व्यूहन से अभिप्राय है क्योंकि अरस्तू के विचारानुसार मानव चरित्र क्रियाओं द्वारा व्यक्त होता है, अतः चरित्र का कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं है। इसीलिए पोयटिक्स का नायक भी भारतीय नेता की भाँति सर्वगुण संपन्न, इतिहास प्रसिद्ध तथा मानवेतर होता था। फिर नाटक के आदर्शात्मक होने के कारण, चरित्र विकास एवं व्यक्ति-वैचित्र्य को वह स्थान प्राप्त न था जो आधुनिक नाटकों में है।

भाषा—अरस्तू के विचारानुसार भाषा पात्रानुकूल एवं गंभीर होनी चाहिए अन्यथा भावोत्थान में बाधा उत्पन्न होगी और भावोत्थान के अभाव में प्रवृत्ति-संशोधन न हो सकेगा।

विचार—नाटक आदर्शात्मक हों, अतः विचारों का धार्मिक एवं सामाजिक होना अत्यावश्यक था। अनीति और असत् का प्रतिपादन नितांत वर्जित था।

१—पोएटिक्स—ट्रांसलेशन बाई लेस कूपर।

रंगमंच—अरस्तू के युग में नाटक प्रदर्शन बहुधा देवालयों के प्रांगण में होता था अतः पोयटिक्स में रंगमंच का केवल संकेत मात्र है जिससे उस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

संगीत—पोयटिक्स में संगीत तथा पद्यात्मक कथोपकथन दोनों को ही आवश्यक माना है क्योंकि अरस्तू के विचार थे कि पद्य ही गंभीर भावों का सुंदर वाहन है और संगीत विशिष्ट भावबोध के लिये अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करता है। जब दुःख में तड़पते नायक को देखकर हृदय फटने लगता है तभी संगीत लहरी मानवात्मा को सुश्रूषा प्रदान करती है। यही कारण था कि उस समय नाटक में कोरस को विशिष्ट स्थान प्राप्त था।

पुनरुत्थान के अनंतर, नाट्यसृष्टि पर लगी अर्गला के टूटते ही, अरस्तू के सिद्धांतों के प्रतिकूल अनेक स्वतंत्र मतों की स्थापना करने वाले नाटकों का जन्म हुआ। इस युग के लगभग सभी नाटककार शेक्सपियर, रेसिन, गेटे और शिलर स्वतत्रता के पक्षपाती थे अतः उनकी कृतियों पर आधारित सिद्धांत शनैः शनैः पोयटिक्स के सिद्धांतों से भिन्न होते गए और उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में तो इब्सन, हाप्टमैन, स्ट्रिंडवर्ग और शॉ ने नूतन प्रकार के नाटकों का सर्जन करके संपूर्ण नाटक-सिद्धांत का ही विपर्यय कर डाला।

आधुनिक मत

सिद्धांत परिवर्तन के क्रमिक मतांतरों का इतिहास न लिखकर हम यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त समझते हैं कि अरस्तू के अनंतर, इक्कीस सौ वर्ष के अनुभव ने, नाटक में छः तत्वों – वस्तु, नेता, कथोपकथन, देशकाल, शैली और उद्देश्य का निर्देश किया है।

वस्तु—'वस्तु', शब्द का प्राचीन मत से विभिन्न अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है किंतु संकलन में आर्चर के शब्दों में निर्णयात्मक अवसर

(क्राइसिस) पर ही दृष्टि रही ।[1] तात्पर्य यह कि भावों को घनीभूत करना, एवं चरमावस्था पर शीघ्रातिशीघ्र पहुँचाना ही आधुनिक वस्तु की विशेषता है ।

पात्र से तात्पर्य पात्र तथा चरित्रचित्रण दोनों से है। वस्तुतः पात्रों की संख्या कम करना तथा चरित्रचित्रण पर अधिक ध्यान देना ही आधुनिक विचारधारा की विशेषताएँ हैं।

पात्र

आधुनिक मतानुसार मानव गुणावगुण का संमिश्रण है, प्रत्येक में दोनों किसी न किसी अनुपात में अवश्य उपस्थित रहते हैं और उसी अनुपात में परिवर्तन करने से मनुष्य का चरित्र बनता और बिगड़ता है। अतः अब केवल स्थायी गुणों का चित्रण संतोषप्रद नहीं होता वरन् चरित्र विकास ही अधिक नाटकीय माना जाता है। फिर आधुनिक समीक्षा में पात्रों के व्यक्तित्व पर भी अधिक बल दिया जाता है। आज नाटक द्वारा मानव से, उसके हृदय तथा आत्मा से परिचित कराना ही लक्ष्य है। अतः क्रियाओं की अपेक्षा क्रियाओं के हेतु को जानने की अधिक उत्सुकता है। संघर्ष आंतरिक हो जाने के कारण, मानव विविध प्रवृत्तियों के विरोध का क्षेत्र बन गया है। परिस्थितिवश कभी एक और कभी दूसरी प्रवृत्ति बलशाली हो उठती है, अतः उसके क्रमिक विकास के आधार पर उसकी मनोदशा का चित्रण कर देना ही चरम नाटकत्व है। प्रतिनायक अथवा अनंत त्रिभुज (एक स्त्री, दो पुरुष अथवा एक पुरुष दो स्त्री का प्रेम संघर्ष) की आवश्यकता नहीं रह गई है। इसी प्रकार नायक का आदर्शात्मक होना भी अनावश्यक है क्योंकि वह मानव है, देवता नहीं। फिर आधुनिक नाटकों में नायक का उतना प्रमुख होना भी आवश्यक नहीं है—यदाकदा तो नायक का

1—'आन प्ले मेकिंग' ल्यू आर्चर ।

अस्तित्व ही अस्वीकृत हो जाता है उदाहरणार्थ गाल्सवर्दी के 'स्ट्राइक' अथवा हाप्टमैन के 'डाई वीवर' आदि अधिकांश नाटकों में। सारांशतः आज प्रेक्षक मानवता से परिचित होना चाहता है, किसी व्यक्ति विशेष से नहीं।

कथोपकथन आधुनिक मत से भी मौलिक तत्व है, अपितु उसकी विशेषता संघर्ष के आंतरिक होने के कारण और भी बढ़ गई है। अब क्रियाव्यापार अधिक नहीं होता केवल कथोपकथन द्वारा ही मनुष्य के मस्तिष्क संघर्ष को चित्रित किया जाता है, इसीलिये 'स्वगत' को अस्वाभाविक समझकर उसका प्रयोग बंद कर दिया गया है।

कथोपकथन

बिना पृष्ठभूमि के न तो चित्र का हम अनुशीलन कर सकते हैं और न मानव चरित्र का ही। परिस्थितियों का ज्ञान रहने पर किसी क्षुधापीड़ित मानव को चोरी करते देख हमारा हृदय भर आता है किंतु किसी धन-लोलुप को देखकर घृणा होने लगती है। फिर प्रत्येक देश और काल का वातावरण मनुष्य को अस्पष्ट रूप में प्रभावित करता है। प्रत्येक की तत्सामयिक एवं प्रादेशिक भावना तथा आचारविचार परोक्ष रूप में उसे विशेषता प्रदान करते हैं। इसी को मनोवैज्ञानिक देश, काल एवं जातिजनित संस्कार कहते हैं जो मानव को जन्म लेते ही उत्तराधिकार रूप में प्राप्त होता है। इसी संस्कार की विभिन्नता के कारण दो मानव जन्म से ही दो प्रकार की क्रियाएँ स्वभावतः करते हैं। उदाहरणार्थ सन् १९४७ की स्वतंत्रता के पूर्व और उत्तर के भारतीयों में नितांत विचारविभिन्नता है। अतः ऐसी परिस्थिति में दोनों की क्रियाओं का वास्तविक विवेचन करने के लिए, दोनों समयों की परिस्थिति, भाव विचारादि का ज्ञान होना आवश्यक हो जाता है। इसी को आचार्यों ने 'देशकाल' कहा है

देशकाल

और यह नाटक का एक अनुपेक्षणीय तत्व है। ऐतिहासिक नाटकों में तो इसका महत्व और बढ़ जाता है क्योंकि इसी के द्वारा उनमें स्वाभाविकता एवं सजीवता आती है।

शैली के अंतर्गत भाषा, गुंफन आदि सभी का समावेश है। इसी के द्वारा रचना बोधगम्य तथा सुंदर बनाई जाती है। इसी के आधार पर हम यह कह देते हैं कि अमुक नाटक कालिदास का है अथवा भवभूति का शेक्सपीयर का, येट्स का, रेसीन का या ह्यूगो का है। इसी ने रूढ़िवाद को रोमांसप्रियता से तथा दोनों को यथातथ्य निरूपण से पृथक किया है। इसी के अंतर्गत भाषा का ओज, प्रसाद तथा माधुर्य गुण एवं कार्य अवस्थाओं और गुंफन की सुव्यवस्थ आदि सभी बातें आती हैं।

शैली

नाटक क्या, संसार की समस्त रचनाएँ भाव प्रदर्शन मात्र हैं और भाव स्वयं सापेक्ष वस्तु है। वह कलाकार एवं प्रेक्षक दोनों के अंतर्बोध के आधार पर बोधगम्य है। इसी कारण नाटककार प्रेक्षक के संमुख जीवन दृष्टि, नीति अथवा सिद्धांत रखने को बाध्य है। इसी को उसका उद्देश्य अथवा जीवन-दर्शन कहते हैं। तथ्य तो यह है कि निरुद्देश्य शुभ रचना अनुमान से भी परे है और नाटक तो विशिष्ट एवं चुनी हुई घटनाओं का समन्वय है। पर चयन के लिए आधार का होना आवश्यक है जो नाटक में बहुधा किसी सिद्धांत-प्रतिपादन अथवा समस्या उद्‌घाटन के निमित्त होता है। इसी कारण आधुनिक समीक्षक उद्देश्य को आवश्यक तत्व मानते हैं।

उद्देश्य

अब उपर्युक्त तीनों मतों के आधार पर हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि प्राचीन युरोपीय एवं आधुनिक मतों द्वारा तत्व निर्देशन में किस प्रकार की मौलिक विभिन्नता है ?

विभिन्न मतों की तुलना

कहानी या वस्तु

कहानी के विषय में यह तीनों ने एक मत से स्वीकार किया है कि उपयुक्त तथा मनोरंजक कथानक नाटक के प्राण हैं, बिना इसके नाटक रचना संभव नहीं है और किसी विशिष्ट जीवन का चित्रण ही नाटक का ध्येय है।

नेता

इसी प्रकार नेता अथवा प्रमुख पात्र के विषय में भी प्रमुख पात्र का ही चित्रण होता है, शेष सब सहायक हैं। यद्यपि प्राचीन मतानुसार (भारतीय एवं पाश्चात्य) उदात्त पात्रों में निश्चित गुणों का होना अनिवार्य था तथापि ग्रीक मतानुसार (नायक में परिस्थितियों के अनुकूल दुर्बलता आना स्वाभाविक माना जाता था) गुणों के साथ उसमें कहीं न कहीं किसी दुर्बलता का होना आवश्यक था, परंतु भारतीय मत में (फल प्राप्ति में पूर्ण विश्वास करता था) चरित्र विकास के लिये नायक को सर्वगुण संपन्न होना अनुपेक्षणीय था। नेता के विषय में मतविभिन्नता की यही एक क्षीण रेखा दिखती है, किंतु वास्तविक विभिन्नता तो आधुनिक दृष्टि ने उत्पन्न की है। यहाँ परिस्थितिवश रूपांतरित मानव के चरित्र-विकास पर अधिक बल दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि समयानुसार जीवन के चित्रण करने में, ये तीनों मत, एक ही वस्तु के तीन पक्ष हैं और उनकी प्रदर्शन शैलियों में अंतर इसलिये आ गया है कि जीवन परिवर्तित, संकुल एवं जटिल हो गया है।

कथोपकथन

वाणी द्वारा ही मानव के वास्तविक स्वरूप का प्रदर्शन होता है और यही वह आधार है जिसके सहारे मानवीय भावनाएँ तथा विचारधाराएँ शब्दों का मूर्त रूप धारण कर प्रकट होती हैं। नाटक दृश्य-काव्य है किंतु दृश्य होने के साथ साथ उसमें श्रव्यता अनुपेक्षणीय है अन्यथा मूक चित्र और उसमें कोई अंतर नहीं रह

जायगा, इसीलिये कथोपकथन को, नाटक को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये, तीनों ने ही स्वीकार किया है, केवल आधुनिक समीक्षा में स्वगत को स्थान नहीं मिला है।

वृत्ति और शैली

वृत्ति और शैली एक ही वस्तु के दो रूप हैं। रस सिद्धि के लिये वृत्ति द्वारा विशिष्ट भाषा एवं चेष्टा तथा मुद्राओं का उपयोग होता है। भाषा की उपयोगिता को तो पोयटिक्स ने भी स्वीकार किया है। और चेष्टा एवं मुद्रा अभिव्यक्ति के लिये अनुपेक्षणीय है यह स्वयं सिद्ध है। शैली द्वारा भी न्यूनाधिक इसी उद्देश्य की सिद्धि होती है। वस्तुतः भारतीय तथा पाश्चात्य मतों में सूत्र और व्याख्या की ही विभिन्नता है।

उद्देश्य

यद्यपि भारतीय तथा पाश्चात्य मतानुसार उद्देश्य का तत्वों में स्थान नहीं है किंतु व्यावहारिक रूप में नाट्यशास्त्र तथा पोयटिक्स दोनों में इसका संकेत मिलता है। भरत मुनि ने तो अर्थ, धर्म और काम के लिये ही नाटक रचना का होना बताया है। और अरस्तू ने भावसंशोधन पर बल दिया है। परंतु आधुनिक मत इस प्रकार के उद्देश्य से असंतुष्ट हैं, वह भी भाव-संशोधन चाहता है, वह भी नाटक द्वारा उदात्त वृत्तियों को जागरित करना अपना लक्ष्य समझता है, किंतु भाव की तुलना में विचार को अधिक महत्व प्रदान करके प्रेक्षक के संमुख विशेष प्रकार का जीवन दर्शन प्रस्तुत करके उसे मानने को बाध्य करता है। इसीलिये आधुनिक नाटककारों ने शॉ की भाँति या तो स्पष्ट सिद्धांत प्रतिपादन किया है अथवा गैल्सवर्दी की तरह घटनाओं का संव्यूहन इस भाँति किया है कि मनोवांछित विचार स्वयं प्रकट हो जायँ। अतः उद्देश्य आधुनिक नाटकों का नित्य गुण हो गया है।

भरत मुनि और अरस्तू, दोनों ने भावों को घनीभूत करने के लिये एवं सरसता देने के लिये संगीत को आवश्यक माना है। किंतु इब्सन और जोला के युग में इस मत के प्रतिकूल धारा बही। उसका कथन था कि यदि नाटक का जीवन वास्तविक निरूपण है तो जीवन में संगीत तथा सरलता कहाँ है, वहाँ तो करुणा और क्रंदन का चीत्कार ही सुनाई पड़ता है। अतः संगीत का उपयोग केवल भावुकता का वातावरण उत्पन्न करके अस्वाभाविकता ही लाएगा। संगीत तथा नृत्य का उपयोग संगीतमय अभिनय (ओपेरा) में ही होना उपयुक्त है। इस मत की टीका यहाँ असंगत है किंतु इतना कहना आवश्यक समझते हैं कि संगीत का बहिष्कार रोमांस संबंधी अत्यंत भावुक वातावरण की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ था, और अब इस बहिष्कार की प्रतिक्रियास्वरूप भूले का पट दूसरी ओर है। सिंज ईलियट आदि आधुनिकतम नाटककारों की रचना में पुनः संगीत का समावेश होने लगा है।

संगीत

रंगमंच को आधुनिक नाटककारों ने मौलिक तत्व नहीं, वरन् साधन माना है। संभवतः इसका कारण यह है कि १९वीं शती में पाठ्य नाटकों (क्लोजेट ड्रामाज) तथा इब्सन जैसे नाटककारों के नाटकों में प्रदर्शित साधारण दृश्यों के लिये किसी विशिष्ट प्रकार के रंगमंचीय विधान की अधिक आवश्यकता न थी। किंतु अब क्रेग, इवरीनाफा आदि ने रंगमंचों की विशद विवेचना की है और उसे महत्वपूर्ण भी माना है। क्योंकि उनके युग के नाटककारों ने ऐसे नाटकों का सर्जन किया जिसमें विशिष्ट रंगमंच एवं विविध साधनों की आवश्यकता हुई। परंतु भारतीय जगत में भरतमुनि ने तो रंगमंडप की आद्यंत विवेचना की है। हाँ, अरस्तू

रंगमंच

के समय में रंगमंच केवल चबूतरा मात्र था अतः उसका वर्णन आवश्यक था।

देशकाल

देशकाल का विवेचन आधुनिक है। प्राचीन समय में ऊँचे जूते तथा चेहरे के द्वारा या उचित आहार्य द्वारा देशकाल चित्रित होता था। किंतु उस काल के नाटकों में देशकाल की आवश्यकता नहीं जान पड़ती थी। वह वास्तविकता नहीं कल्पना का युग था। उस समय के प्रेक्षक प्रख्यात मनुष्यों के जीवन से परिचित होने के कारण, देशकाल की रूपरेखा को स्वतः कल्पित कर लेते थे।

निष्कर्ष

अस्तु, उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय एवं प्राचीन योरोपीय तत्व संबंधी मतों में कोई मौलिक विभिन्नता नहीं है। दोनों में घटनाओं अथवा बाह्य संघर्ष के प्रदर्शन का अधिक प्रयास है। किंतु अब मानव के आंतरिक पक्ष का निरूपण करने के निमित्त एवं विचारों के प्रति अधिक आकर्षित होने के कारण आधुनिक समीक्षा शास्त्र ने चरित्र विकास, देशकाल एवं उद्देश्य की विशेषता तत्वों के संबंध में ला दी है, फिर भी आदि के मौलिक तत्वों में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

नाटक के तत्व और मनोविज्ञान

किंतु नाटक के मौलिक तत्वों का तर्कपूर्ण अनुसंधान बिना मनोवैज्ञानिक कसौटी पर कसे होना असंभव है। हम सर्वप्रथम नाटक के उद्देश्य तथा उनसे संबंधित प्रवृत्तियों पर दृष्टिक्षेप करके यह जानने का प्रयास करेंगे कि उन दोनों के आधार पर नाटक में किन किन तत्वों का होना अनुपेक्षणीय है। यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि नाटकों से हमारा तात्पर्य उन नाटकों से है जो वास्तव में दृश्य काव्य हैं और दर्शनीय हैं अर्थात् उन

नाटकों से नहीं जो केवल पठन-पाठन के लिये लिखे जाते हैं तथा जिन्हें अंग्रेजी में क्लोजेट ड्रामा कहा जाता है जैसे बायरन का 'केन' अथवा पंत की 'ज्योत्स्ना'। वास्तव में अभिनय और रंगस्थली पर ही नाटक की सफलता निर्भर है अतः ये नाटक के आवश्यक अंग हैं और क्लोजेट नाटकों में इनका अभाव होता है।

उद्देश्य तथा तत्व संबंधी प्रवृत्ति

मनोरंजन प्रदान करना तथा भाव संशोधन अथवा आत्मोत्थान में योग देना ही नाटक का मुख्य उद्देश्य है—इस पर हम आगे विचार कर चुके हैं और यह भी कह चुके हैं कि मनोरंजन देने के लिये स्वाभाविक मनोवृत्तियों की तुष्टि आवश्यक है किंतु प्रेक्षक की प्रवृत्तियों को संतोष प्रदान करने से पूर्व नाटककार को उसके ध्यान को आकर्षित करना आवश्यक है। अतः वह सर्वप्रथम प्रेक्षक में मनोयोग की अवस्थिति उत्पन्न करने के लिये अवधान शक्ति को उद्बुद्ध करेगा। यों तो अवधान का संबंध पूर्वार्जित ज्ञान से है अर्थात् किसी वस्तु के प्रति प्रेक्षक तभी आकर्षित होता है जब उसी प्रकार की वस्तु से वह पहले से पूर्णतः अथवा अंशतः परिचित हो और वह उसे आनंद प्रदान करने में सफल रही हो। इसी अवस्था में रुचि का जन्म होता है। हम वास्तव में किसी वस्तु, भाव एवं विचार को तभी ध्यान से देखते हैं जब उसमें हमारी अभिरुचि होती है। रुचि ही ध्यान देने योग्य वस्तुओं का चयन करती है। अवधान ज्ञानात्मक नहीं संकल्पात्मक है। किसी वस्तु के प्रति रुचि का प्रादुर्भाव होना ही उस वस्तु का ध्यान दिलाना है।[1] इसी लिए मैकडूगल ने रुचि को सुप्त अवधान और अवधान को रुचि का सक्रिय होना बतलाया है।[2]

१—रास—साउंड वर्क आव् एजुकेशनल साइकालोजी।
२—मैकडूगल-इंट्रोडक्शन टू साईकालोजी।

मनोवैज्ञानिकों ने अवधान को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। प्रथम श्रेणी का अवधान स्वाभाविक प्रवृत्ति अथवा रुचि से प्रेरित होता है, मध्यम श्रेणी का उद्दीप्त भाव द्वारा और अंतिम श्रेणी का आत्म प्ररोचन अथवा अहमन्यता द्वारा उत्पन्न होता है। अतः रुचि अथवा स्वाभाविक प्रवृत्तियों द्वारा जनित अवधान सर्वोत्तम होगा, क्योंकि वही प्रेक्षक का निष्प्रयास तथा स्वाभाविक मनोयोग होगा। सफल नाटककार उसी अवधान को जाग्रत करता है जिसके लिये रुचि स्वतः उत्पन्न हो जाय और प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ जिसकी आधार हों। निष्कर्ष यह कि मनोयोग के लिये रुचि को संतोष प्रदान करना आवश्यक है।

अवधान की तीन श्रेणियाँ

सभी कलाओं का जन्म क्रीड़न, अनुकरण तथा कुतूहल प्रवृत्तियों से हुआ है और ये ही सर्वदा कला को अनुप्राणित करती रही हैं। अतः यह जानना आवश्यक हो जाता है कि नाटक के वे कौन से तत्व हैं जो इन प्रवृत्तियों को संतुष्ट करते हैं। कुतूहल, हमेशा यह जानने को प्रेरित करता रहता है कि हमारे पार्श्ववर्ती की क्रियायें, भाव एवं विचार क्या हैं, अथवा वे किस प्रकार का जीवन-यापन कर रहे हैं। यदि उनका जीवन सुंदर और अनुकरणीय हुआ तो अनुकरण प्रवृत्ति द्वारा विशिष्ट मानव की ओर लोग और भी आकर्षित होते हैं। क्रीड़न प्रवृत्ति हमको निष्प्रयोजन क्रियायें करने को बाध्य करती है जिनके द्वारा हमारी संचित शक्ति का उपयोग होता है और उससे सुख की भावना उत्पन्न होती है। अतः नाटक के वे ही तत्व हमें अधिकाधिक संतुष्ट कर सकते हैं जिनका मानवीय जीवन से सीधा संबंध हो, जिन्हें देखकर हमें अनुकरण करने की इच्छा हो और जो हमें निष्प्रयोजन सुख भी प्रदान करें।

क्रीडन, अनुकरण तथा क्रीडन प्रवृत्तियाँ

उपर्युक्त प्रवृत्तियों को तुष्ट करने के लिये मनोरंजक कहानी का होना आवश्यक है। वही प्रेक्षक को आकर्षित करके उसमें मनोयोग की स्थिति उत्पन्न करती है। फिर कहानी में क्रियायें होती हैं, क्रियाओं के द्वारा चरित्र प्रदर्शन होता है तथा समय और देशकाल का भी संकेत मिलता है। इसके अतिरिक्त दृश्य काव्य होने के नाते उसमें प्रदर्शन विधि के दो साधन होते हैं—अभिनय तथा कथोपकथन। सारांशतः कहानी के अंतर्गत हम नाटक के पाँचों तत्वों—कार्य व्यापार, चरित्रचित्रण, देशकाल, कथोपकथन एवं अभिनय का समावेश पाते हैं।

प्रवृत्तियाँ और नाटक के तत्व

प्रेक्षक के व्यवधान को जीवित रखने के लिये सुंदर आकर्षक साधनों द्वारा कहानी का मनोरम प्रदर्शन आवश्यक है। प्रेक्षक के संमुख कहानी इस प्रकार से रक्खी जाती है कि उसके मनोवैज्ञानिक बोध में किसी प्रकार का व्याघात न हो, उसके देखने और समझने में कोई बाधा न पड़े तथा रंगमंच द्वारा उसके प्रेक्षण में अधिक से अधिक सुविधा हो। इसी ध्येय को संमुख रककर नाट्याचार्यों ने रंगमंच संबंधी कलात्मक विधान (टेकनीक) कथानक-गुंफन, शैली आदि का आयोजन किया है। अस्तु, मनोरंनज सिद्धि के लिये नाटक तत्वों को दो भागों में विभाजित करेंगे। प्रथमतः कहानी, जिसके केंद्र में कार्य-व्यापार एवं चरित्र-चित्रण है और द्वितीयतः कहानी प्रदर्शन जिसके अंतर्गत कथानक, गुंफन (शैली, कथोपकथन, देशकाल आदि) रंगमंच तथा तत्संबंधी विधान और अभिनय आते हैं।

व्यवधान और उसके योग के साधन

नाटक का दूसरा उद्देश्य भाव संशोधन है। इस संबंध में हम यह आगे कह चुके हैं कि प्रवृत्तियाँ हमारे भावों को प्रभावित करती हैं,

अतः उन्हीं का परिवर्तन ध्येय की सिद्धि करेगा। पर प्रवृत्तियों को दमित नहीं करके अपितु उनको संशोधित एवं ऊर्जस्वित करके।

भाव संशोधन संबंधी प्रवृत्तियाँ

अस्तु, कला का मुख्य ध्येय है हमारी प्रवृत्तियों को संशोधन एवं ऊर्ध्वस्वीकरण इसके लिये कलाकारको हमारी सहानुभूति, अहम् एवं यूथचारी प्रवृत्तियों को उद्बोधित करना आवश्यक है। किंतु निर्देश के रूप में नहीं वरन् संसूचन प्रवृत्ति की सहायता लेकर। यह भी सत्य है कि इन प्रवृत्तियों की सहायता तभी प्राप्त हो सकती है जब कि कथावस्तु रुचिकर, सुखद एवं आकर्षक हो। इसके लिये उन सभी साधनों का प्रयोग करना होगा जो प्रेक्षक को रुचिकर हों, तथा उसे मनोरंजन प्रदान करे। प्रेक्षक के ध्यान को आकर्षित ही नहीं, वरन् उसका आवाहन करके सुरक्षित रखना भी आवश्यक है।

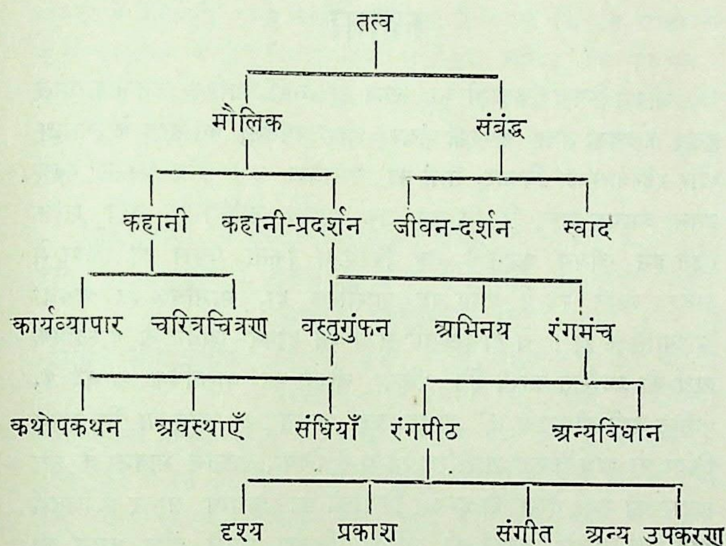
उपर्युक्त से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रथमतः नाटक में उन सभी तत्वों का समावेश होना आवश्यक है जो प्रेक्षक को आनंद

भाव-संशोधन और नाटक तत्व

प्रदान करते हैं। किंतु इनके अतिरिक्त जीवन के किसी मौलिक सिद्धांत के पृष्ठतल में कथानक का प्रस्तुत होना भी आवश्यक है अन्यथा भाव-संशोधन किस प्रकार होगा। फिर संसूचन के लिये नाटककार के व्यक्तित्व की भी आवश्यकता होती है। इसमें संदेह नहीं कि कलाकार का व्यक्तित्व कथावस्तु में अवश्य दृष्टिगत होता है। इसी को प्रसिद्ध नाटककार गैल्सवर्दी ने 'स्वाद' (फ्लेवर) कहा है।[1] अतः कथानक तथा कथानक प्रदर्शन विविध-तत्वों के अतिरिक्त भावशोधन के लिये जीवन दर्शन तथा कलाकार का व्यक्तित्व भी आवश्यक तत्व है।

१—जान गैल्सवर्दी—'सम प्लाटीट्यूड्स एबाउट ड्रामा।

अस्तु, मनोवैज्ञानिक आधार पर तत्व-वृक्ष इस प्रकार होना चाहिए—



—०—

कहानी

जीवन केवल कहानी का संग्रह ही नहीं अपितु उसके अंतर्गत हृदय के व्यक्त तथा अव्यक्त क्रंदन और स्पंदन, मस्तिष्क के जटिल और रहस्यात्मक विचार, सभी का समावेश है। फिर 'क्रिया' स्वयं इतना व्यापक शब्द है कि जब तक मानव जीवित है—वही शक्ति जिसे हम जीवन कहते हैं वह किसी न किसी प्रकार की क्रिया में अवश्य व्यस्त रहेगी चाहे वह शारीरिक हो, मानसिक हो अथवा आध्यात्मिक हो। ये ही क्रियाएँ समन्वित होकर जीवन के वास्तविक अर्थ को प्रदर्शित करती हैं। 'क्रिया जीवन का वास्तविक आनंद है, अपितु वही जीवन है।'[1] वस्तुतः यह अरस्तू का भ्रम था कि उसने क्रिया का अर्थ केवल शारीरिक क्रिया से लिया, उसने भावना के उस संसार को नहीं देखा जो हमारी क्रियाओं का अगाध सागर है जिसमें भाव एवं विचार तरंगों की भाँति प्रतिक्षण उठते और हृदय को विलोड़ित करते रहते हैं। शारीरिक क्रिया तो भावना प्रेरित बाह्य प्रदर्शन मात्र है जिसे हम अधिकाधिक जीवन का प्रत्यक्ष पक्ष कह सकते हैं अतः केवल एक पक्ष को ही जीवन मान लेने से संपूर्ण जीवन का आभास न हो सकेगा। जीवन का अधिक प्रसारपूर्ण, महत्व-पूर्ण एवं उपयोगी पक्ष वह अनंत भाग है जो कदाचित् ही क्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त हो सके। किसी अर्थ तथा वसनविहीन जर्जर वृद्ध भिक्षु को देखकर हम उसे कुछ देने को तत्पर होते हैं किंतु जेब टटोलने पर अपने पास कुछ न पाकर हम प्रायः अपनी असमर्थता नहीं प्रकट करते वरन् भिक्षु को ही अपने तीखे व्यंग का पात्र बनाकर हम आगे

१—श्लेगल—लेक्चर्स आन ड्रामेटिक आर्ट एंड लिटरेचर।

बढ़ जाते हैं। 'संन्यासी'[1] में 'किरणमयी' को खद्दर की साड़ी पहने देख 'दीनानाथ' यही समझते हैं कि 'मुरलीधर' के कहने से राजनीतिक भावना से प्रेरित हो उसने साड़ी पहन ली है, जब कि उस साड़ी के भीतर मुरलीधर के प्रति विगत दिनों का छिपा संचित प्रेम भाव था। अतः यदि नाटक को जीवन का अनुकरण करना है तो वह उन सभी प्रकार की क्रियाओं को चित्रित करेगा जिसका संबंध शरीर, हृदय तथा मस्तिष्क से है।

जीवन और संघर्ष

किसी सीधी रेखा की भाँति मानव जीवन सरल नहीं है, उसमें अनेक उतार चढ़ाव हैं, अनेक वक्र मोड़ हैं। यही 'अनेकता' उसकी असंतुष्ट प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें संतुष्ट करने में निरंतर हृदय और मस्तिष्क का द्वंद्व चलता रहता है। ज्वार-भाटे की भाँति उठनेवाली परिस्थितियाँ भावना जगत में एक क्षोभ उत्पन्न कर देती हैं और इससे त्राण पाने के हेतु उद्वेलित प्रवृत्तियाँ 'कुछ' माँगती हैं और परिस्थितियाँ उन्हें समाज का भय दिखाकर उस 'कुछ' की ओर बढ़ने से रोकती हैं—इन्हीं सब में मानव-जीवन का संघर्ष निहित है। कुशल नाटककार जीवन की इसी मार्मिक खींच तान को सुंदरता के साथ प्रेक्षक के संमुख रखता है। इसका अत्यंत सुंदर उदाहरण 'उत्तररामचरित' में हमें उस स्थान पर देखने को मिलता है जहाँ सीता के अनन्य प्रेमी उन्हें अपने जीवन से पृथक् नहीं करना चाहते, किंतु राजधर्म और प्रजा की तुष्टि के लिये विवश हो उन्हें लक्ष्मण द्वारा सीता जी को वन में भेजने का निश्चय करना पड़ता है। इसी प्रकार के मानसिक द्वंद्व का संकेत 'अभिज्ञान शाकुंतल' में भी है। शकुंतला के अकलुष विमोहक सौंदर्य से लुब्ध दुष्यंत उसे अपने पास रख लेना चाहते हैं किंतु लोकापवाद के भय से ऐसा नहीं कर पाते। यही प्रवृत्ति और

१—लक्ष्मीनारायण मिश्र का एक नाटक।

परिस्थिति का असामंजस्य हमारे जीवन में ताप, क्लेश और रुदन को जन्म देता है।

निःसंदेह हमारी जन्मजात प्रवृत्तियाँ नित्य ही भयानक परिस्थितियाँ उत्पन्न किया करती हैं और इनकी उद्दाम असंतुष्ट वासना उस समय पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है जब वे केवल स्वार्थ तुष्टि के लिये संपूर्ण संसार को भीषण रणस्थल में बदल देती हैं। हिटलर की महत्वाकांक्षा ही तो गत महायुद्ध का कारण बनी। नीत्शे के व्यक्तिवाद अथवा 'महामानवतावाद' ने ही तो उसे रूप पर आक्रमण करने को विवश किया। इस प्रकार स्वार्थ एवं आत्मरक्षा की भावना ने संपूर्ण विश्व को युद्ध की ज्वाला से हिला दिया। मानव की संहारी प्रवृत्ति मानवता को त्याग, हृदय के देवता के चीत्कार को रूँध, समष्टि का विनाश करने को उतर पड़ी। विश्व के युद्धस्थल के रूप में परिवर्तित करने-वाली वह विनाशी प्रवृत्ति हमें साधारण जीवन में भी पग पग पर दिखलाई पड़ती है। चोर चोरी करता है और धनी धन की रक्षा करता है। एक ही प्रवृत्ति से प्रेरित होकर। इसी प्रकार पूँजीपति कम से कम मूल्य देकर श्रमिकों से अधिक से अधिक श्रम चाहता है तथा श्रमिक कम से कम काम करके अधिक पारिश्रमिक माँगता है। तात्पर्य यह कि सभी स्वत्वस्थापन में व्यस्त हैं और यही स्वत्वस्थापन का सतत प्रयत्न ही व्यक्ति तथा व्यक्ति में, वर्ग तथा वर्ग में, व्यक्ति तथा समाज में और स्त्री तथा पुरुष में संघर्ष को जन्म देता है। निःसंदेह, प्रत्येक जीवन में भावों की अंतर्धारा बहती रहती है जो कभी तो अनु-कूल होती है और कभी प्रतिकूल। इसी से संघर्ष होने का संकेत मिलता है। नाटक का क्रिया-व्यापार अदृश्य शक्तियों की भावना और विरोध का पृष्ठतल लेकर किसी बाह्य आघात से उद्बुद्ध होकर भीषण परिस्थिति उत्पन्न कर देता है। नाटक को इसीलिये सामाजिक कहा जाता है क्योंकि कथानक से संबंध रखनेवाले सभी पात्र उसी आघात से प्रभावित होते हैं।

किंतु इस बाह्य संघर्ष की अपेक्षा प्रवृत्तियों का पारस्परिक संघर्ष अधिक भयावह है क्योंकि कुछ प्रवृत्तियाँ तो स्वत्व पालन को बाध्य करती हैं और कुछ ऐसी हैं जो हमें सामाजिक होने के नाते उनका दमन करने को प्रेरित करती हैं। प्रेम और घृणा, आत्मप्रदर्शन और आत्मलघुता आदि अनेक विरोधी प्रवृत्तियाँ हममें निहित हैं। स्वार्थपरायणता हमें क्रूर बनाती है किंतु समवेदना आर्द्र। भय, हमें किसी वस्तु से दूर भागने को कहता है तो कुतूहल हमें खींच कर वहीं ले जाता है। तात्पर्य यह कि इस प्रकार साम्यविहीन प्रवृत्तियों की अवस्थिति के कारण मनुष्य स्वयं संघर्षस्थल बना है। हमारी शिक्षा का सदा यही उद्देश्य रहा है कि हम किसी प्रकार का सामंजस्य इनमें स्थापित कर लें, अन्यथा हम कभी सुखी न हो सकेंगे।

आंतरिक संघर्ष

फ्रायड ने एक और संघर्ष का विवेचन किया है। चेतन और अवचेतन का संघर्ष। इसके मूल में है हमारी यौन प्रवृत्ति की असफल चेष्टा। यदि हम अपनी प्रवृत्ति की प्रत्येक उचितानुचित इच्छा को संतुष्ट कर सकते तो संभवतः हममें किसी प्रकार के असंतोष का जन्म न होता। किंतु जीवन की विषमता तो यह है कि हमारी आंतरिक प्रेरणाओं के आग्रह का कोई अंत नहीं है। उधर सभ्य एवं सुसंस्कृत होने के कारण न केवल उन इच्छाओं को पूर्ण ही करना वरन् उधर आकर्षित होना तक अनुचित समझते हैं। फलतः यही इच्छाएँ अवचेतन में जा जाकर एक पृथक् संसार बना लेती हैं। ये ही तिरस्कृति प्रेरणाएँ एवं इच्छाएँ स्वतंत्र राज्य स्थापित करके क्षण-प्रतिक्षण चेतन से संघर्ष करती रहती हैं।

चेतनावचेतन का संघर्ष

अस्तु, हम जीवन में तीन प्रकार के संघर्ष की अवस्थिति पाते हैं—बाह्य संघर्ष, जो वस्तुतः व्यक्ति और समाज एवं परिस्थितियों के द्वंद्व से

होता है, आभ्यंतरिक संघर्ष, जो मानव की चेतनावस्था में विरोधी प्रवृत्तियों के कारण होता है और चेतन-अवचेतन का संघर्ष जो वस्तुतः सबसे अधिक भयानक है क्योंकि हमें पता नहीं चलता कि कब अवचेतन प्रबल पड़कर हमें नष्ट कर देगा।

नाटक जीवन का चित्रण होने के कारण, संघर्ष से अछूता कैसे रह सकता है? यही कारण है कि नाटक की आदि सृष्टि से ही, उसमें संघर्ष किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त हुआ है। ग्रीक नाटकों में तो पूर्णतः व्याप्त है ही किंतु शांतिप्रिय भारतीय भी इससे अछूते नहीं रहे हैं। प्रेमातुर होने पर भी दुर्वासा के शाप से ग्रस्त हो शकुंतला तथा दुष्यंत को दुःखद जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इसी प्रकार प्रणयातुर उर्वशी के कुमार वन में प्रविष्ट करने तथा लता में परिणत होने पर पुरुरवा को कुछ काल के लिये आँसू बहाने पड़े हैं। इस शाप तथा दुर्भाग्य को नैसर्गिक शक्तियों का संघर्ष ही तो कहेंगे? 'इडियस रेक्स'[1] एवं 'आथेलो'[2] में भी इसी प्रकार सामर्थ्य का संघर्ष है। 'मृच्छकटिक' तथा 'उत्तररामचरितम्' में तो यह द्वंद्व की रेखा और अधिक स्पष्ट हो उठी है। इतना ही नहीं नाट्यशास्त्र में भी देव-दानव संग्राम की 'त्रिपुरदाह' वाली कथा का उल्लेख है, जिसे संघर्ष का आदिम रूप कहा जा सकता है। अतः यह कथन केवल एक भ्रम है कि संघर्ष पश्चिम की देन है या वहाँ के काव्य की विशेषता है। वास्तव में संघर्ष तो मनोवैज्ञानिक एवं जीव वैज्ञानिक तथ्य है। अतएव नाटकीय क्रिया को संघर्ष का पर्याय मान लेना अनुचित या अतिशयोक्ति पूर्ण न होगा। सचमुच 'नाटक उस अवस्थ का निरूपण है जिसमें कोई परिस्थितिबद्ध व्यक्ति भाग्य से सामाजिक

1—युरोपिडीज का एक नाटक।
2—शेक्सपीयर का एक नाटक।

नियमों से अथवा अपने सहवासियों से युद्ध करने को बलात् फेंक दिया जाता है। वह अपने चतुर्मुखी भयावह अंधविश्वासों, मानवीय मूर्खताओं, स्वार्थपरायणताओं एवं दुष्कृतियों, सभी से तो युद्ध करता रहता है।''–यह दूसरी बात है कि उसकी जय हो या पराजय।

फिर नाटकों में केवल घटनाओं का ही निरूपण नहीं होता। घटनाओं के मूल में हृदय होता है जो सरस अनुभूति, प्रेम, भावुकता आदि का क्रीड़ास्थल है, और मस्तिष्क भी होता है जो ज्ञान, तर्क-वितर्क तथा विवेक का निवासस्थल है। किंतु दोनों में क्षण प्रति-क्षण संघर्ष होता रहता है—तात्पर्य यह कि मानव स्वयं संघर्ष का प्रतीक है अन्यथा वह मानव न होकर देवता होता। यही आंतरिक संघर्ष–भाव और भाव का संघर्ष, शक्ति और शक्ति का संघर्ष–बाह्य संघर्ष की अपेक्षा अधिक मर्मस्पर्शी एवं प्रभावशाली है। ऐसा संघर्ष रक्तपात आदि की बाह्य विभीषिका को छोड़ करके हमें उस स्थान पर ले जाता है जिसके व्योम में हृदयकीटीस, आत्मा की करुण नीरवता, प्रपीडित मानवता की वेदना छा गई है।

नाटक में प्रदर्शित संघर्ष समयानुसार रूपांतरित होता आया है। आदि युग में जीवन संकुल नहीं था और न सभ्यता के नाम पर समस्याओं का घटाटोप था जिसको सुलझाने में वह व्यस्त रहता। भास, शूद्रक और कालिदास का समय भारत का स्वर्ण युग था, न तो रोटियों के लाले थे, न सभ्यता के नाते कलुषित हृदय को अनेक स्तरों से लपेटना पड़ता था। यही दशा युरोप के लोगों की भी थी। वे भी प्रकृति प्रेमी थे, देवताओं में विश्वास रखते थे और धर्म में उनकी आस्था थी। यही कारण है कि आदि युग में हमें बाह्य संघर्ष ही देखने को मिलता है। अतः उस

संघर्ष का प्राथमिक रूप

१—आर्चर आन प्ले मेकिंग।

समय के कलाकार काल्पनिक जीवन की सृष्टि करने में व्यस्त रहे। उन्होंने तव जिनको कुसुमित एवं पल्लवित होते हुए द्रुममंडल के सदृश माना जिसमें कुसुमित होना, प्रफुल्लित होना एवं मुरझा जाना तीनों अवस्थाओं का समावेश है। अतः उसने सुख-दुःख का कारण भाग्य अथवा दैवेच्छा समझ, व्यक्ति की क्रियाशीलता पर ध्यान न दिया। इसी लिये नाटककारों ने इस प्रकार के निरापद एवं विधिप्रेरित जीवन का निरूपण किया जिसमें आंतरिक संघर्ष की रेखा स्वभावतः क्षीण थी।

शनैः शनै सभ्यता के विकास के साथ व्यक्तित्व का विकास भी हुआ। मानव में अहंमन्यता का भाव जगा, सामाजिक नियमों, रीति और आचार व्यवहार की स्थापना हुई। अतः क्रमशः प्रकृति का स्थान परिस्थिति ने और भाव का स्थान विचार ने लिया और इस नवगर्भित तुला पर प्रत्येक कार्य का विवेचन होने लगा। मानव ने अपनी आत्मा को टटोलना प्रारंभ किया, तभी से भाव का संघर्ष, विचार और विचार का संघर्ष जीवन में आया तथा नाटक में अभिव्यक्त हुआ। भारत में तो राजनैतिक विपर्यय से नाटक का सृजन बंद सा हो गया, इसी कारण व्यक्तित्व प्रदर्शन न हो सका। किंतु युरोप में शेक्सपीयर और रेसिन के अधिकांश नाटकों में इसकी रेखाएँ स्पष्ट हैं। फिर फ्रांस की क्रांति के अनंतर आंतरिक संघर्ष भी निरूपित हुआ।

आंतरिक संघर्ष का निरूपण

वस्तुतः आधुनिक गति-तीव्र जीवन का ध्यान रखते हुए नाटक में मंथर गतिवाले जीवन का चित्रण असत्य तथा अप्राकृतिक सा लगा। इसी कारण हम उसमें चरमावस्था, भीषणतम परिस्थिति एवं निर्णयात्मक अवसर का समावेश पाते हैं और यह अवस्था, परिस्थिति एवं अवसर आकस्मिक नहीं हैं, कार्य कारण के संबंध द्वारा उनका क्रमिक विकास हुआ है जिसका मूल कारण है आभ्यंतरिक संघर्ष।

इस आभ्यंतरिक संघर्ष का सुंदर उदाहरण हमें नार्वे के प्रसिद्ध नाटककार इब्सन के नाटकों में मिलता है। अधिकांश पात्र विस्फोट के ही कूल पर बैठे मिलते हैं—केवल एक आघात, एक चिनगारी और बस, एक धड़ाका सुनाई पड़ता है जिससे न केवल पात्र का अपितु प्रेक्षक का हृदय भी उद्वेलित हो उठता है। 'गुड़ियों का घर' (डाल्स हाउस) की नायिका नोरा पर्दा खुलने से पूर्व एक ऐसा कार्य कर बैठी है जो उसके सच्चरित्र सिद्धांतवादी पति की आँखों में घातक पाप है। जिस समय पर्दा खुलता है नोरा ऐसी घबराई हुई परिस्थिति में प्रेक्षक के संमुख आती है जिससे त्राण पाने के लिये वह अत्यंत व्याकुल है। किंतु जिस बात को वह छिपाना चाहती थी वह खुल जाती है-भयानक विस्फोट होता है, परिवार का सुख हिल उठता है। नारी का स्वाभिमान पुरुष के उस स्वार्थी स्वरूप को देख तिलमिला उठता है जब वह देखती है कि उसका वही सदाचारी पति जो कि क्षण भर पूर्व उसके कुकृत्य पर, जिसे उसने उसकी भलाई के लिये ही किया था, रुष्ट होकर अपशब्द कह रहा था और ज्योंही उसे यह विदित होता है कि पत्नी के अपराध से अब उसके मान पर कोई आघात न पहुँचेगा-चहकने लगा है और पत्नी के अपराध को भुलाकर पूर्ववत् उसे 'मेरी गुड़िया' और 'मेरी बुलबुल' कहकर पुकार रहा है। किंतु नोरा अब गुड़िया बनकर रहने के लिये तैयार नहीं है—जहाँ उसके त्याग का मूल्य नहीं वहाँ बंदिनी बनकर वह नहीं रह सकती और घर छोड़कर चली जाती है।

चेतन-अवचेतन का संघर्ष

फिर भी इसमें चेतन-अवचेतन के संघर्ष की क्षीण रेखा दिखाई पड़ती है। इस प्रकार के संघर्ष की ओर विशिष्ट ध्यान फ्रायड ने ही दिलाया। यही कारण है कि उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में दो प्रमुख धाराएँ नाट्य साहित्य जगत् में देखने को मिलती हैं—एक तो इब्सन आदि द्वारा प्रवाहित जिसमें यौन

संघर्ष घनीभूत हो उठा है और दूसरी चेतन-अवचेतन के संघर्ष की वह धारा जिसका सुंदरतम निरूपण मेटरलिंक ने 'पीलियस और मेलिसेंडा' में किया है। बाह्य संघर्ष अब कहीं दिखाई न देता था—वह घटनाप्रधान पौराणिक नाटकों में ही समाकर समाप्त हो गया।

सच तो यह है कि सभ्यता के विकास के साथ हमारा ध्यान आंतरिक जगत् की ओर विशेष उन्मुख हो उठा। कदाचित् इसी लिये आज हममें संवेदनशीलता की व्याप्ति अत्यधिक हो गई है। यही कारण है कि जहाँ प्राचीन कलाकार केवल चेतनावस्था के चित्र खींचते थे, वहाँ आधुनिक अवचेतन जगत् में प्रवेश कर गए हैं। फ्रायड तथा जूंग ऐसे मनोविश्लेषकों के कथनानुसार चेतनता मानव भावनाओं का केवल बाह्य पट है। अधिक शक्तिशाली अंतःस्तल है जो उसके संपूर्ण क्रियाकलाप को प्रभावित किए रहता है। 'उसकी प्रतिभा, उसकी नींद, उसके स्वप्न–सारांशतः उसका संपूर्ण व्यक्तित्व अवचेतन ही से जनित तथा अधिकृत है।'[1] इन्हीं अवस्थाओं का विरोध हमारे हृदय क्षेत्र में द्वंद्व मचाए हुए है और इसी से सत्-असत् का, पाप-पुण्य का, न्याय-अन्याय का, राग-विराग का अनंत संघर्ष उद्भूत होता है। इसी आंतरिक संघर्ष से प्रपीड़ित हो 'मत्स्यगंधा'[2] बाह्य स्थिति से भयभीत हो एक ओर तो पाराशर मुनि से पूछती है—

'कैसे तोड़ूँ बंधनों को जो अनादि काल से हैं,
आज मैं अभेय ही चलूँ क्यों अभिधेय पथ ?'

किंतु दूसरी ओर, आंतरिक प्रणयाकांक्षा से आतुर हो कह पड़ती है 'एवमस्तु प्रियतम'। यही 'चंद्रमा'[3] की 'वासना' तथा धार्मिक भावना

१—जर्मन दार्शनिक लिबनिज।

२—उदयशंकर भट्ट के गीतिनाट्य 'मत्स्यगंधा' की मुख्य नारी पात्र।

३—भगवतीचरण वर्मा के 'तारा' नाटक का मुख्य पात्र।

के तुमुल युद्ध का आधार है और यही 'लोकेश्वरी'[1] सी साध्वी राज-महिषी को भी पथभ्रष्ट करता है।

अस्तु, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कहानी में संघर्ष का निरूपण आवश्यक है। उसी के द्वारा हम मानव की वास्तविक क्रियाशीलता से परिचित होते हैं और उसी के द्वारा हमारी कुतूहल प्रवृत्ति की चरम तुष्टि होती है। फिर जैसा कि श्लेगल ने कहा है 'नाटक गतिशील एवं प्रगतिशील जीवन की अवस्थिति का एक पुनर्निर्मित चित्र है।'[2] और मानव विकास का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमने आरंभ में प्रकृति और पशुओं से युद्ध किया, फिर अपने पार्श्ववर्तियों से, तदुपरांत समाज से। अंत में सुव्यवस्थित तथा सुसंस्कृत होने पर हमने अपने ही हृदय में संघर्ष की अग्नि प्रज्वलित की जो कभी शांत न हुई, न जिसके शांत होने की आशा ही है।

समस्या का जन्म वैषम्य के अनंतर ही होता है, क्योंकि इसी के द्वारा ध्यान केंद्रीभूत होकर विषमता के निवारण में संलग्न होता है।

संघर्ष और समस्या

अतः समस्या जीवन की विषमता के रूप तथा अवस्था के अनुरूप ही उठती है और शांत होती है। मानव जाति की जो समस्या कालिदास के युग में थी वह विशाखदत्त के समय न थी। इसी प्रकार जिस समस्या को युरीपिडीज ने 'ओरिस्टिस' में चित्रित किया है वह शेक्सपीयर, रेसीन अथवा ड्यूमा के नाटकों में नहीं मिलती। जिन प्रश्नों को गेटे और शिलर ने समाज के संमुख रखा, वह इब्सन और शा के समय में महत्वपूर्ण नहीं रह गए। फिर समय के अतिरिक्त, स्थान के आधार पर भी समस्याओं की

१—रवींद्र बाबू के 'नटीर पूजा' की एक नारी पात्र।

२—श्लेगल—लेक्चर्स आन ड्रामेटिक आर्ट एंड लिटरेचर।

विभिन्नता आती है। टाल्सटाय और गोर्की की समस्याएँ, इब्सन और गैल्सवर्दी की समस्याओं से सर्वथा भिन्न हैं।

समस्या और वातावरण

अतः समस्याओं पर विचार करने से पूर्व हमें किसी भी देश-विशेष के वातावरण से परिचित होना नितांत आवश्यक है। उदाहरणतः उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में यूरोप में एक ओर तो व्यक्तित्व विकास का प्रयास एवं धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक स्वतंत्रता की दुंदुभि बज रही थी तो दूसरी ओर निष्कंटक स्वतंत्रता से उद्‌भूत विलासिता एवं अनाचार की वृद्धि हो रही थी—एक ओर पिता, पति और परिवार के बंधनों से मुक्त होने की धुन थी, तो दूसरी ओर कलह और स्त्री जाति की सहस्रों वर्षों की दबी हुई आत्मा का प्रतिशोध था, एक ओर उपयोगितावाद एवं मार्क्सवाद का आग्रह था और दूसरी ओर उनके द्वारा प्रतिफलित संघर्षात्मक परिणाम था। असामंजस्य एवं विरोधाग्नि ने समस्त समाज को प्रज्वलित कर दिया। अतः ऐसे भयावह तथा संकुल जीवन द्वारा विविध समस्याओं का जन्म स्वाभाविक हो गया।

भारतीय वातावरण

इसी प्रकार भारतीय समस्याओं का अन्योन्य संबंध अपने वातावरण के अनुकूल रहा है। देश परतंत्र था, शासन व्यवस्था में कोई स्थान न था और स्वतंत्र होने की उत्कट अभिलाषा प्रेरणा रूप में उसे विदेशी सत्ता से टक्कर लेने को उकसा रही थी। किंतु शतियों से दासत्व की शृंखला में बद्ध होने के कारण राष्ट्रीय भावना सुप्त हो गई थी उसी प्रकार जिस प्रकार पिंजराबद्ध पक्षी यह भूल जाता है कि वह भी कभी स्वच्छंद मुक्त आकाश में उड़ा करता था। नैतिकता का ह्रास, आर्थिक कठिनाई, रोटी का प्रश्न आदि ने हमारी मनोवैज्ञानिक अवस्था को जर्जरित कर दिया था। सारांशतः एक चिरंतन

समस्या घेरे हुए थी जिसके कारण सुख, शांति और मानसिक संतुलन सभी नष्ट हो गए थे अतः हमारा जीवन ही एक समस्या हो गया था और उसमें सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा वैयक्तिक–सभी प्रकार की समस्याएँ उभर कर संमुख आ गई थीं। किंतु १९४७ के पश्चात् ज्योंही हमने स्वतंत्रता प्राप्त की हमारे जीवन में भी लगभग वे सभी समस्याएँ घुस आईं जो किसी भी पनपते स्वतंत्र देश में व्याप्त हैं।

अस्तु, देशकाल तथा वातावरण के अनुसार ही समस्याओं का जन्म होता है, जिन्हें हम एकदेशीय कह सकते हैं। परंतु कुछ समस्याएँ हमारी सार्वजनिक प्रवृत्तियों से संबंधित हैं और जिनके कारण जीवन की स्वस्थता में बाधा पड़ती है। मनोवैज्ञानिक आधार पर इन व्यापक समस्याओं का वर्गीकरण दो भागों में किया जा सकता है—एक रति संबंधी जो वास्तव में यौन से उद्भूत है और जातिरक्षा में संलग्न है, दूसरी आत्मरक्षा संबंधी जिसके अंतर्गत आर्थिक एवं अधिकांश सामाजिक समस्याएँ आती हैं।

समस्या के भेद

मानवजीवन की चिरंतन एवं महत्वपूर्ण समस्या का संबंध रति से है, जिसे यूरोप में यौन (सेक्स) संबंधी कहते हैं। नारी-पुरुष, उनका पारस्परिक आकर्षण तथा प्रतिफलन, सामंजस्य अथवा वैषम्य, वैवाहिकता आदि अनेक प्रश्न संसार के संमुख सदा से आते रहे हैं और प्रत्येक देश और काल ने उनके समाधान के रूप बताए हैं। उदाहरणार्थ 'अगेमेम्नन' की यह समस्या थी कि क्या पिता को अपनी पुत्री का बलिदान बिना अपनी अर्द्धांगिनी की सहमति के करना चाहिए था? 'उत्तर रामचरितम्' की समस्या थी कि क्या सीता ऐसी साध्वी का परित्याग मर्यादा पुरुषोत्तम को करना उचित था? इसी प्रकार प्रत्येक युग में,

रति संबंधी समस्या

देश में समयानुकूल स्त्री के अधिकार संबंधी प्रश्न सदा से देश तथा समाज के संमुख आते रहे हैं। किंतु नारी को वस्तुतः व्यक्तित्व विकास का अवसर कब मिला ? आदि युग में भी वह पुरुषाधिकृत थी और आज भी है। सभ्यता के युग में वह संतानपोषिका तथा गृहस्थी-संचालिका, स्वर्णयुग में वासना तथा उपभोग का साधन और आज के इस विकसित वैज्ञानिक युग में भी अधिकाधिक वह आदरणीय उपभोग्या, स्वर्णशृंखलाबद्ध दासी, परकटी स्वामिनी तथा पुरुष के आतप और विष को पचानेवाली नारी ही रह गई।

यूरोपीय रति समस्या

रति समस्या के व्यापक होने पर भी, वातावरण की विभिन्नता के कारण, यूरोप में इसने कुछ और ही रूप धारण किया। वहाँ स्त्रीवर्ग ने अपने को स्वतंत्र करने के लिये सभी साधनों का उपयोग किया। पुरुषों सा वेष बनाया, राष्ट्ररक्षा में हाथ बँटाया, फिर भी समस्या सरल न हो सकी, सुलझने के स्थान पर उलझती ही गई। नारी स्वतंत्र होकर भी हितकारिणी न हो सकी। जिस समाज को वह सँभालने चली थी वह इस स्वतंत्रता संग्राम में और भी जर्जर हो गया। पुरुष ने उसे प्रेम की साक्षात् मूर्ति मानकर पूजने का ढोंग किया किंतु उसका पौरुष उसे पराजित करने के फेर ही में रहा। उधर स्त्री ने पुरुष की नारी में गल जाने, पिघल जाने एवं आत्मसमर्पण करने की प्रवृत्ति को प्रवंचना मानकर अपने को स्वतंत्र रखना चाहा। इस खींचतान ने वृहदाकार होकर वहाँ के पारिवारिक जीवन को नष्टभ्रष्ट कर डाला। विवाह का पुनीत संबंध समझौता बन गया।

इसी समय प्रख्यात मनोवैज्ञानिकों—फ्रायड आदि ने यौन प्रवृत्ति की ओर संकेतकर यह बताने का प्रयत्न किया कि नारी-पुरुष न स्वतंत्र ही हो सकते हैं और न सुखी जीवन ही व्यतीत कर सकते हैं। फिर

भी स्त्री ने अपने को सर्वोपरि समझने का प्रयत्न किया और पुरुष ने उसे गुड़िया समझकर खेलना प्रारंभ किया। स्वीडिश नाटककार स्ट्रिंडवर्ग ने अपने 'फ्राडेन' नामक नाटक में प्रथम वर्ग का और इब्सन ने 'डाल्स हाउस' में दूसरे वर्ग का चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त फ्रेंच नाटककार ब्रूयो ने अपने नाटक 'मैटरनिटी' में स्त्री को पुरुष की वासना का प्रतीक मानकर चित्रित किया है।

शेक्सपीयर द्वारा कोमल भावनाओं की प्रतीक नारियाँ 'आफीलिया'[1], 'कार्डीलिया'[2] अथवा 'डेस्डीमोना'[3] नारी को देवी रूप प्रदान करके भी, अपने वर्ग का भला नहीं कर सकीं। वस्तुतः समस्या केवल नारी को देवीस्वरूपिणी बना देने से हल नहीं हो जाती, वरन् उसे समझने की भी आवश्यकता है। इसी लिये आधुनिक नाटककारों ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा प्रवृत्तियों को अनावृत करके 'वेस्ट'[4], 'ट्रेजडी आव नैन'[5] आदि की सृष्टि की।

यूरोप की ही भाँति आधुनिक भारत की भी अधिकांश वैयक्तिक समस्याएँ स्त्रीपुरुष में सामंजस्य स्थापित करने की हैं। एक ओर तो

भारत की रति समस्या

सदा से अभिमानी पुरुष है, जिसने स्वर्णयुग से ही नारी के मृदुल कोमल संस्पर्श में अपने को लुटाकर भी उसे अपनी संपत्ति समझा और दूसरी ओर अर्धशिक्षिता नारी है जो सस्ते कामुक उपन्यासों को पढ़कर एवं चलचित्र के रोमानी दृश्यों को देखकर विदेशी तितली बनने का फूहड़ स्वांग रच रही है, अथवा

१, २, ३—शेक्सपीयर रचित नाटक 'हैमलेट', 'किंग लीयर' तथा 'आथेलो' की प्रमुख नायिकाएँ।

४—ग्रेनविल बार्कर का एक नाटक।

५—मेस्फील्ड का एक नाटक।

पाश्चात्य संस्कृति में डूबी अति आधुनिका है जो 'मिश्रजी' की 'माया-देवी'[1] की भाँति पुरुषों से खेलती है तथा गार्हस्थ जीवन में विश्वास नहीं रखती।

भारत में उठी इस सद्य रति समस्या को मिश्रजी ने बुद्धिवाद के नाम पर सुलझाने की चेष्टा की है। उनके अधिकांश पात्र बी० ए० के छात्र हैं अथवा शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं किंतु सभी इस समस्या से प्रपीड़ित होकर जीवन से ऊब चुके हैं और आत्महत्या पर कटिबद्ध हैं। प्रसिद्ध नाटक 'सिंदूर की होली' में बालविधवा 'मनोरमा' मनोजशंकर की ओर आकर्षित होती है किंतु वैवाहिक बंधन से दूर भागती है। उसके विचारानुसार प्रेम शब्द का कोई अस्तित्व नहीं है—'हृदय का रस दो सुंदर शब्द जिसका अर्थ होता है—वासना, विकार अपने पाप की प्रदर्शिनी।' पुरुषों से वह इसलिये भागती है कि उनकी जाति 'दशाश्वमेध' घाट पर बैठे उन भिक्षुओं की भाँति है जिनमें एक-एक टुकड़े पर द्वंद्व चलता है। उधर 'चंद्रकला'[2] इसलिये 'मानसिक मजबूरी' से व्यथित है क्योंकि उसने 'रजनीकांत' का एक-पक्षीय वरण कर लिया है। इस प्रकार के अद्भुत नारी पात्रों को जन्म देकर मिश्रजी कालेज में पढ़नेवाले युवक-युवतियों की समस्या हल करने बैठे हैं। परंतु प्रश्न उठता है कि क्या यही समस्या का हल है ? इस समस्या का एक दूसरा पक्ष डा० रामकुमार वर्मा के 'रजनी की रात' तथा 'सुदर्शन' की 'अंजना' में देखने को मिलता है। 'अंजना' कहती है—

'दुनिया उदास थी, स्त्री उत्पन्न की गई। स्त्री बेकार थी, उसे सुंदरता दी गई। परंतु चारो ओर अँधेरा था और उस सुंदरता को देखने योग्य न थी, तब विधाता ने स्त्री का हृदय लेकर उस पर जादू

१, २—लक्ष्मीनारायण रचित नाटक 'आधीरात' की नायिकाएँ।

कर दिया। दुनियाँ में उजाला हो गया वसंतमाला।' भावुकता-पूर्ण होने पर भी यह भी वास्तविकता का दूसरा पक्ष है और आशावादी भी।

सारांशतः स्त्री पुरुष की समस्या मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के कारण चिरंतन समस्या है। अथवा उन दोनों के संबंध का आधार भौतिक है अथवा आधिभौतिक, आत्मिक है अथवा आध्यात्मिक, आदि प्रश्न सदा से समाज के संमुख आते रहे हैं और समाज उन्हें अपने ढंग से सुलझाने में व्यस्त रहा है और रहेगा।

वस्तुतः नारी और पुरुष का संबंध शाश्वत है। यह युगयुगांतर से चला आ रहा है। जीवशास्त्र भी कहता है—नारी पुरुष की ओर पुरुष नारी की ओर आकर्षित होगा ही-दोनों का युग्म संबंध सृष्टि-रचना के लिये अपेक्षित है, अतः नारी पुरुष का आकर्षण न केवल मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के अनुकूल यौन की भूख है अपितु सृष्टि की पुकार है, नैसर्गिक है। यह पुकार न केवल मानव जगत् की है वरन् इसी में सृष्टि की रचना का रहस्य निहित है। मानव सभ्य है, शिक्षित है अतः उसका यौन संबंध एक मर्यादा, एक आवरण के भीतर है।

युग युग से सृष्टि को जीवित रखनेवाले नारी पुरुष जब एक प्राकृतिक सिद्धांत का अनुसरण करते चले आ रहे हैं तब उनमें संघर्ष क्यों? प्रश्न विचारणीय है और इसका संतोषजनक उत्तर हमें मनोविज्ञान की सहायता से ही मिलेगा।

आदि युग में जब मानव पूर्ण रूप से सभ्य नहीं था, तब नारी परिवार अथवा दल का नेतृत्व करती थी। उस समय वैवाहिक संस्कार का जन्म न हुआ था अतः पुरुषवर्ग से संसर्ग स्थापित कर वह अनेक संतानों को जन्म देती थी—वही सबकी पोषिका थी। किंतु शनैः शनैः ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती गई, संस्कार संशोधित होते गए वह अनेक के

स्थान पर एक पुरुष की भार्या बन गई। पुरुष को अधिकार मिला, अधिकार भावना के विकास के साथ उसका पौरुष भी जागता गया। उसने नारी को दुर्बल एवं कमनीय समझकर पहले तो स्वयं को उसका संरक्षक तदुपरांत स्वामी बना दिया। जब तक नारी को उसने आदरणीया स्वामिनी माना तब तक तो उसने असंतोष प्रकट न किया अपितु पुरुष के संरक्षण में अपने को सुखी तथा सुरक्षित मानकर, कृतज्ञता के रूप में उसे अपना सर्वस्व समझा परंतु जब उसे पैरों की जूती समझ, उस पर अत्याचार किया जाने लगा तो पहले तो शिक्षा की आँखें और आर्थिक बल न होने के कारण वह चुपचाप पालतू पशु की तरह सिर झुकाए कष्टों को सहन करती रही, किंतु आधुनिक युग में ज्योंही उसका शिक्षा से संपर्क हुआ, उसका कुचला अधिकार जाग उठा, उसने अपने स्वत्व को पहिचाना। अतः आज हम जो नारी पुरुष के मध्य संघर्ष देख रहे हैं उसके पृष्ठतल में है स्वत्वस्थापन अथवा आत्मप्रदर्शन की भावना। बाह्य तथा आभ्यंतर में वे अपना कार्य कर रही हैं और करती रहेंगी यही मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

सामाजिक समस्या

दूसरी समस्या का संबंध व्यक्ति के विकास से है। वस्तुतः व्यक्ति और समाज कम से कम व्यक्तित्वविकास भावना के पश्चात् सदा से दो विरोधी धरातल पर रहते आए हैं, समाज नियम बनाता है, व्यक्ति उसका अतिक्रमण करता है, समाज उसे नष्ट करता है और वह समाज को जर्जरित। आचार, आडंबर, पाखंड, मिथ्या कुलाभिमान आदि अनेक प्रश्न हमारे संमुख आते हैं। इनका सफल उद्‌घाटन ही आधुनिक विशेषता है। गैल्सवर्दी के 'सिलवर बाक्स' की यही समस्या है कि एक ही नियम धनी के लिये एक अर्थ में और धनहीन के लिये दूसरे अर्थ में प्रयोग होता है। इब्सन, शा, ताल्सताय एवं गोर्की आदि सभी ने इस प्रकार की समस्याओं का सफल निरूपण किया है।

इसी प्रकार भारतीय नाटककारों ने भी 'प्रकाश'[1], 'सेवापथ'[2], 'धीरे-धीरे'[3], 'स्वर्ग की झलक'[4] तथा 'अंगूर की बेटी'[5] आदि में कौंसिलों का दावपेंच, स्त्री जाति की आधुनिक शिक्षा का विकृत रूप तथा मद्यपान का दुखद परिणाम आदि का चित्रण किया है।

आर्थिक समस्या

अर्थ संबंधी समस्या का रूप भी अत्यंत व्यापक है। इसने व्यक्ति और व्यक्ति में, वर्ग और वर्ग में, देश और देश में संघर्ष उत्पन्न कर दिया है। गैल्सवर्दी का 'स्ट्राईफ' तथा उदयशंकर भट्ट जी की 'कमला' में इसी का निरूपण हुआ है।

अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—जीवन के ये चार फल हैं। इनकी प्राप्ति में ही जीवन की यथार्थता, सफलता तथा सार्थकता है। जीवन में इन चारों को प्राप्त करने की भावना आधुनिक नहीं, सनातन काल से चली आ रही है। जिस क्रम से ये रखे गए हैं उसकी व्याख्या करने से यह स्पष्ट होता है कि संपत्तिशाली मानव धर्माचरण करते हुए गार्हस्थ जीवन में रहकर भी मोक्ष का अधिकारी हो सकता है अर्थात् आचरण की पवित्रता श्रेष्ठ है। किंतु भूख से तड़पते, दर दर की ठोकरें खानेवाले, नंगे बदनवाले मानव से आचरण की पवित्रता की कल्पना किस प्रकार की जा सकती है और उस अवस्था में जब कि वह एक पारिवारिक मनुष्य है? मानव एक क्षण को स्वयं भूख की ज्वाला को सहन कर सकता है परंतु भूख से बिलबिलाते बच्चों को देख उसकी आत्मा तड़प उठती है। तब परिस्थिति का मारा मानव विवश होकर चोरी, डकैती तथा हत्या जैसे जघन्य पाप करने पर उतारू हो जाता है। वस्तुतः विश्व के लगभग सभी पापों के मूल में यही भूख की ज्वाला

१, २, ३—गोविंददास रचित नाटक।

४—उपेन्द्रनाथ अश्क का एक नाटक।

५—डा० रामकुमार वर्मा—भूमिका 'रेशमी टाई' पृष्ठ १।

है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। इसी लिये दीनता का मारा श्रमिक जब पूँजीपति को अपने ही खून पसीने पर वैभव का समस्त सुख भोगते देखता है तब उसकी दुःखी आत्मा विद्रोह कर उठती है। वह किसी की दासता में नहीं रहना चाहती—उसे भी जीने का अधिकार है। यही अहं जब चोट खाता है तब 'स्वस्यैवः प्रियमात्मनः' के धर्म से प्रेरित हो वह स्वत्वस्थापन में तल्लीन हो जाता है और तब अनेक विरोधी प्रवृत्तियाँ कुलबुलाने लगती हैं। मानसिक दशा विकृत हो जाती है और वह उस विरोधी से प्रबल शक्ति से टक्कर लेने के लिये उतावली हो उठती है—केवल एक धक्का लगने की देर रहती है। तात्पर्य यह कि इस समस्या के मूल में मानव की क्षुधासंबंधी प्रवृत्ति है जिसके कारण शोषक तथा शोषित वर्ग के मध्य सदा से इस प्रकार की संघर्षात्मक परिस्थितियाँ उद्भूत होती रही हैं और भविष्य में कदाचित् शांति से रहने न देंगी।

सारांशतः आधुनिक जीवन की परिस्थितियाँ अत्यंत विषम होने के कारण संघर्ष को जन्म दे रही हैं और जो समस्या रूप में नाटककार की रचनाओं में चित्रित हो रहे हैं। संघर्ष और समस्याएँ मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों को संतुष्ट करते हैं अतः उनका समावेश नाटक में मनोरंजन प्रद है।

नाटक में उद्देश्य और जीवन-दर्शन

जीवन, संघर्ष और समस्या की तार्किक समाप्ति जीवनदर्शन में है क्योंकि उसी के द्वारा कलाकार समस्या को सुलझाकर, संघर्ष निवारण करके जीवन को सुखद बनाने का प्रयत्न करता है। वास्तव में नाटक तभी तक जीवित रह सकेगा जब तक कि वह पक्षपात एवं अंधविश्वास को नष्ट करके, प्रेक्षक को आत्म-विस्मृत करके, अपने काल्पनिक अनुभव द्वारा उसमें शक्ति, शौर्य और

नाटक और जीवन-दर्शन

उत्साह भरता रहेगा। क्योंकि यह प्रयास प्रेक्षक की विविध समस्याओं को सरल करके, उसकी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों में सामंजस्य स्थापित कर देता है। इसी लिये कलाकार को मानवमात्र का अभिन्न सखा कहा है। उसे जीवन की प्रत्येक मुस्कान और प्रत्येक उच्छ्‌वास की गहराई का ज्ञान है। प्रेम और घृणा में हृदय के स्पंदन की गति से उसके कान परिचित हैं[1] अतः वह जीवन की घटनाओं को अधिकाधिक घनीभूत करके, उन्हें कार्य-कारण की शृंखला में बाँधकर, जीवन-दर्शन कराता है। तभी तो उसकी कला आनंदप्रद और शुभ हो पाती है। प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' में स्त्री भी अपने में 'रक्त की तरल लालिमा का अनुभव करती है, अपने को उपहार देने की वस्तु शीतलमणि नहीं समझती' और इसी कारण वह 'रामगुप्त' सरीखे क्लीव को त्यागकर 'चंद्रगुप्त' की उपासिका बन जाती है। 'रजनी की रात' में डा० रामकुमार वर्मा ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है कि 'वास्तव में सुख-दुःख संसार के लड़ने भिड़ने में है। सुख-दुःख तो उसे नहीं मिलता जो मुर्दा है। पड़ा है जमीन पर।' 'कामना'[2] की साध, विलास के साथ रहकर भोग-विलास की थी। किंतु वास्तव में विलास उसे सुख और शांति प्रदान नहीं कर सका। यही 'छलना'[3] नाटक का उद्देश्य है और नाटककार का जीवनदर्शन है। वस्तुतः बिना किसी ज्ञानप्रद उपदेश के नाटक की कल्पना भी असंभव है। कम से कम आधुनिक समय में तो कलाकार चिरंतन अस्तित्व की पीठिका पर जीवन के कुतूहल को व्यंजनात्मक भाषा में सोद्देश्य प्रस्तुत करता है।

१—डा० रामकुमार वर्मा, भूमिका 'रेशमी टाई', पृ० १

२—प्रसाद जी के 'कामना' गीतिनाट्य की नायिका।

३—भगवती प्रसाद वाजपेयी के 'छलना' नाटक की नायिका।

किंतु इतना अवश्य है कि कला और नीतिशास्त्र में विभिन्नता है। कला उपदेश देती है किंतु उपदेशिका के रूप में नहीं अन्यथा

नाटक और शास्त्र

मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के प्रतिकूल आचरण करेगी। मलेरिया के रोग से रोगी छुटकारा तो चाहता है किंतु कड़ुवी कुनैन नहीं खाना चाहता। सफल चिकित्सक तो वही है जो उसे कुनैन खिला दे किंतु उसकी कटुता को मधुवेष्टित करके। जिस 'शुगर कोटेड पिल' के सेवन पर मिश्रजी ने व्यंग्य किया है[1] वस्तुतः वही मनोवैज्ञानिक तथ्य है और उसके द्वारा मानवकल्याण ही हुआ है। इसी संबंध में आचार्य निकल ने कहा है 'यों तो उपदेश बड़ी सुंदर वस्तु हैं, किंतु नाटकों में वह घृणास्पद है। नाटककार, प्रकारांतर से तो अपने विचार प्रकट कर सकता है, किसी भी समस्या का प्रतिपादन अथवा पीप भरे घाव का प्रदर्शन कर सकता है किंतु जिस समय वह उपदेश देने लगता है, रंगमंच गिरजाघर सा लगता है, और वह उपदेश सिद्धि में विफल भी हो जाता है'।[2] यही विभिन्नता कलाकार और दार्शनिक में है—दार्शनिक व्यापक सत्य को व्यापक रूप में प्रस्तुत करता है किंतु कलाकार व्यापक सत्य को वैयक्तिक रूप में और वह भी कार्य-कारण की पृष्ठभूमि पर प्रकट करता है।

फिर निरपेक्ष सत्य की अवस्थिति ही कहाँ है ? वही सिद्धांत एक परिस्थिति में सत्य सिद्ध होता है, और दूसरी में मिथ्या, जैसे हिंदू

सत्य असंभव

जाति का वर्णाश्रम सिद्धांत। किंतु इस कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि मौलिक सिद्धांत में व्यापकता ही व्यर्थ है। 'स्वार्थ सत्य और परार्थ असत्य' सिद्धांत सभी देश और काल का चिरंतन

१—निकल—'ब्रिटिश ड्रामाज़।'

सत्य है। ऐसे ही व्यापक सत्य को कालिदास, भवभूति, शूद्रक एवं शेक्सपीयर ने अभिव्यक्त किया है किंतु सदा घटनाओं के संकलन द्वारा।

शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' के मुख्य पात्र चारुदत्त से यह कहलवा कर—

कांश्चित्तुच्छयति प्रपूरयति वा कांश्चिन्नयत्युन्नतिं
कांश्चित्पातविधौ करोति च पुनः कांश्चिन्नयत्याकुलान्।
अन्योऽन्यं प्रतिपक्ष-संहतिमिमां लोकस्थितिं बोधयन्
एष क्रीड़ति कूप-यंत्र-घटिका - न्याय–प्रसक्तो विधिः॥

मनुष्य के भाग्य की कुएँ में पड़ी कूपयंत्र-घटिका से तुलना की है जो मनुष्य को बनाती और बिगाड़ती है। किंतु इस व्यापक सत्य का प्रतिपादन घटना सापेक्ष ही है। सहानुभूति के साथ, सच्चाई के साथ, घटनाओं के तर्कपूर्ण गुंफन द्वारा कलाकार जीवनदर्शन प्रस्तुत करता है, तभी तो वह अपने को निष्पक्ष प्रमाणित कर सकता है।

स्पष्ट प्रतिपादन अनुपयुक्त

नाटककार सदा से सोद्देश्य रचना करता आया है। प्रेक्षक को उसने वही दिया, जिसमें उसे आस्था थी अथवा जिसका वह स्वयं अनुभव करके विश्वास करता था। कालिदास, शेक्सपीयर, और रेसीन प्रथम वर्ग के तथा बर्नर्ड शा और मिश्रजी दूसरे वर्ग के उदाहरण हैं। किंतु 'एक और मार्ग है जिसमें वह घटनाओं का चयन करता है, भय, कृपा और पक्षपात की उपेक्षा करके, जिससे प्रेक्षक स्वयं निष्कर्ष निकाल लेता है। इसी लिये नाटककार को कुछ ऊँचे धरातल पर रहना पड़ता है[1]।' मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यही सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। यदि नाटककार प्रेक्षक को शिष्य और स्वयं को शिक्षक अनुमान कर लेता है तो निःसंदेह वह प्रेक्षक के अहं पर आघात पहुँचाता है। यही कारण है कि प्रतिभाशाली होकर भी शा तथा मिश्रजी जीवनदर्शन प्रस्तुत करने में अपने पक्ष को वकील की भाँति प्रबल करने का प्रयास

१—गाल्सवर्दी—सम प्लाटीट्यूड्स एबाउट ड्रामाज।

करने लगते हैं। 'सिंदूर की होली' की 'मनोरमा' वस्तुतः उनके (मिश्रजी के) विचारों की ही प्रतीक है और उसके विचार सत्य से नहीं, तर्कप्रेरित हैं। इसी प्रकार शा ने 'सेंट जोन आफ आर्क' में 'जोन' द्वारा अपने नाटक के सिद्धांत का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। ऐसा जान पड़ता है कि शा स्वयं 'जोन' का स्वरूप धारण कर बोल रहे हैं। यह प्रणाली उपन्यास में रुचिकर हो सकती है किंतु नाटक में नहीं। प्रेक्षक तो जीवन चाहता है, सिद्धांत नहीं। ज्ञान चाहता है किंतु किसी पाठशाला में बैठकर नहीं। गैल्सवर्दी तथा इब्सन ने इस मनोवैज्ञानिक सत्य को समझा है इसी लिये उनके नाटकों में जो जीवनदर्शन का आग्रह है वह उपदेशात्मक नहीं है अपितु घटनाएँ ऐसे विकसित होती हैं कि जीवनदर्शन स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

आर्चर के कथनानुसार 'उद्देश्य शब्द का प्रयोग विषयसंकलन तथा कथासंकलन, दोनों अर्थों में होता है।'[1] किंतु दोनों में से एक में भी चित्रहीन उद्देश्य का होना अनुचित है।

सूक्ष्म उपदेश असंगत

इसी प्रचारात्मक दृष्टिकोण के कारण प्रगतिशील कलाकार साहित्य की चारुशीलता को नष्टभ्रष्ट कर रहे हैं। बुद्धि को तो अवश्य उद्दीप्त कर देते हैं किंतु भाव को नहीं। हमें तो सत्य चाहिए, उन घटनाओं द्वारा जो हृदय की सहानुभूति को प्राप्त कर सकें, अथवा जो हमारी रागात्मक प्रवृत्ति में कुछ चेतना ला सकें। इसी लिये नाटक के लिये 'उद्देश्य' की अपेक्षा 'जीवनदर्शन शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त है। सच तो यह है कि उद्देश्य के चक्कर में पड़कर कलाकार यों तो कोरे बुद्धिवादी हो गए अथवा नीरस प्रगतिवादी।

नाटक ही नहीं जीवन संबंधी सभी काव्य में जीवनदर्शन का मुख्य स्थान रहा है। किंतु मानवता के विकास के साथ मनुष्य की संवेदन-

---

१—आर्चर—आन प्ले मेकिंग।

शीलता के परिवर्तन के कारण तथा विचारराशि में अभिवृद्धि होने के नाते उसकी अभिव्यंजना में अंतर आता रहा है। पहले का नाटककार मनीषी था, मध्ययुग का नीतिकार और आधुनिक समाजशास्त्रज्ञ है किंतु जीवन-दर्शन वह सदा प्रस्तुत करता रहा है। यही उसका उद्देश्य, व्यक्तित्व अथवा स्वाद है। हार्डी वाह्य विभीषिका चित्रित करते हैं तो गैल्सवर्दी मानव की शक्तिहीनता और विफलता। शा हमें मैथुसला[1] में पहुँचाते हैं तो बेरी जादू की नगरी में। 'प्रसाद' आदि युग के जीवन का प्रत्यावर्तन चाहते हैं तो मिश्रजी नवीन दृष्टिकोण से अंकन। उदयशंकर भट्ट यदि समस्या की भावमयता में डूब जाते हैं तो डा० वर्मा जीवन की फाँस निकालकर सामंजस्य स्थापित करना चाहते हैं। तात्पर्य यह कि सभी में जीवन-दर्शन निजी व्यक्तित्व अथवा स्वाद द्वारा प्रदर्शन करने की चेष्टा है किंतु घटनाओं के उतार-चढ़ाव द्वारा अथवा किसी विशिष्ट पात्र द्वारा। फ्रेंच नाटककार इस ढंग से जीवन-दर्शन प्रदर्शन की प्रणाली को 'रेजोंनर' कहते हैं।

सारांशतः नाटककार का संसार उसकी सृष्टि है, उसमें उसका व्यक्तित्व स्पष्ट होता है। उसी के मस्तिष्क की भावनाएँ, उसके विचारों की धारा एवं उसी के जीवन का चित्रण होता है। इटैलियन कलाविद् क्रोचे के शब्दों में 'हम जिस वस्तु को ढूँढ़ते हैं और आनंद प्राप्त करते हैं, जो हमारे हृदय को नचाकर सरस कर देता है वह है कलाकार का जीवन, गति, भाव, भावनाएँ तथा अग्नि।'[2] यही उसका व्यक्तित्व तथा जीवन-दर्शन है। अतः मनोवैज्ञानिक आधार पर जीवन की आकर्षक एवं महत्वपूर्ण घटनाएँ, देश काल का निर्वाह, जीवन-दर्शन एवं व्यक्तित्व का प्रदर्शन होना रुचिकर ही नहीं अपितु अनुपेक्षणीय भी है।

१—बैक टू मैथुसला।

२—स्काट जेम्स—मेकिंग्स आव् लिटरेचर।

चरित्रचित्रण

नाटक में क्रिया की अपेक्षा उसके हेतु का ही अधिक महत्व है क्योंकि प्रेक्षक की सदा यह अभिलाषा रहती है कि अपने ऐसे मानव के हृदय एवं मस्तिष्क की गुह्य स्थली को देखे, तभी तो वह क्रिया के वास्तविक रूप का विवेचन कर सकता है। इसी 'हेतु' अथवा 'भाव' को व्यक्त करना ही चरित्रचित्रण है। 'चरित्र, बुद्धि एवं स्नायु संबंधी स्वभाव का मिश्रण है जिसमें कुछ अंश तो जन्मजात होता है और कुछ अर्जित।'[1] ऐसे मानव स्वभाव से बिना परिचय कराए नाटककार मानव का सफल विश्लेषण कर ही कैसे सकता है? वस्तुतः मानव का वास्तविक अंग तो भाव, विचारादि का मनोवैज्ञानिक क्षेत्र है; क्योंकि चरम नाटकीयता तो परिस्थितिजन्य मानसिक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति में है। इसी लिये प्राचीन कलाविदों ने स्वगत भाषण आदि का प्रयोग किया था। यथार्थ में मानवजीवन विविध प्रवृत्तियों द्वारा प्रेरित अविच्छिन्न धारा है, और प्रवृत्तियों में किसी के प्रबल अथवा क्षीण होने से ही उसका व्यक्तित्व रूपांतरित होता रहता है।

मानव चरित्र

फिर जीवन की संघर्षमयता एवं संकुलता ने मानव हृदय में अपने नष्ट होने की आशंका को उद्भूत कर दिया है। इसी से घबराकर अपनी रक्षा के लिये सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग करने के लिये वह विवश हो गया है। इसी प्रयास में उसने अपने को अनेक स्तरों से वेष्ठित कर लिया है। अतएव केवल बाह्याचार द्वारा उसका

१—आर्चर-आन प्ले मेकिंग।

वास्तविक स्वरूप प्रकट नहीं होता। वह मुस्कराता है तो हृदय की टीस दबाकर, रोता है तो किसी प्रतिद्वंदी की मृत्यु से प्रसन्न होकर। अतः यह 'अनुमान करना ही असंभव है कि उसके हृदय में किस प्रकार के घातप्रतिघात की धारा बह रही है। अस्तु, यदि नाटक में मानव का सफल चित्रण करना है तो उसकी क्रियाओं के हेतु उसके भावों, विचारों एवं संपूर्ण अंतःकरण को अभिव्यक्त करना आवश्यक है।' आंतरिक उन्मुखता ही आधुनिक नाटकों की विशेषता है, जिसका कुछ कारण स्वयं चरित्रों की रहस्यमयता है और कुछ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का प्रयास है अर्थात् परिस्थिति के स्थान पर मनोभावों (अथवा फ्रेंच का Etat de l'ami शब्द को) प्रस्तुत करना[1]—जिस समय 'टारवेल्ड हेल्मर'[2] से प्रेक्षक का प्रथम साक्षात्कार होता है उस समय उसके 'नोरा'[3] के प्रति 'प्रेम लपेटे अटपटे बैन' सुनकर यही धारणा होती है कि वह 'नोरा' का अनन्य प्रेमी है किंतु शनैः शनैः वह अनुभव करने लगता है कि 'टारवेल्ड' सत्तरहवीं शती का भावुक प्रेमी नहीं है। वह 'नोरा' से प्रेम करना तो क्या उसके व्यक्तित्व को ही नष्ट करने के लिये तत्पर है, प्रदर्शित प्रेम तो इसी का साधन मात्र है। अतः हेल्मर जैसे पात्र का पूर्ण परिचय प्राप्त कराने के लिये चरित्रविकास की नितांत आवश्यकता है। इस भेद को जानने के लिये हमें इब्सन अथवा पश्चिम के व्यक्तिवैचित्र्यवाद की आवश्यकता नहीं है, अपितु यह तो आधुनिक युग का मनोवैज्ञानिक आग्रह है जिसकी उपेक्षा कोई भी नाटककार नहीं कर सकता। 'प्रसाद' जी के पात्र, ऐतिहासिक होते हुए भी चरित्रवैचित्र्य के अनूठे उदाहरण हैं, वे अधिकांशतः मनोवैज्ञानिक संकुलता के ही प्रतीक हैं।

मनुष्य की मनोवैज्ञानिक असाधारणता

१—निकल-ऐन इंट्रोडक्शन टू ड्रामेटिक थ्योरी।

२, ३—इब्सन के 'डाल्स हाउस' के पात्र।

चरित्रचित्रण की इसी विशेषता ने प्रसाद जी को नाट्यसाहित्य में अमरत्व प्रदान किया है और उनके नाटकों में सजीवता एवं मोहकता भर दी है।

व्यक्तिवैचित्र्य और रस

तथ्य तो यह है कि चरित्रचित्रण ही आधुनिक नाटकों का जीवन है किंतु हमारे साहित्याचार्यों ने नाटक के तत्वों के अंतर्गत इसे केवल इसलिये नहीं आने दिया क्योंकि उनके विचारानुसार यह व्यक्तिवैचित्र्य को जन्म देता है जो साधारणीकरण में बाधक है। 'रस' का विवेचन करते समय हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि व्यक्तिवैचित्र्य कुतूहल और चमत्कार को जन्म देकर रसचर्वण में सहायता ही करता है। इसके अतिरिक्त हमें यह भी ध्यान में रखना है कि आज संसार भरत मुनि के युग से कई शतियों आगे बढ़ आया है, अतएव आज का मानव न तो धीरोदत्त हो सकता है और न उसे ऐसे गुणों में विश्वास ही है। साहित्य में नित्य नूतन 'वादों' का जन्म होता चला जा रहा है—रहस्यवाद, छायावाद, अभिव्यंजनावाद आदि अनेक प्रणालियाँ काव्य जगत् में प्रवेश कर गई हैं और इनसे काव्य को क्षति नहीं लाभ हुआ है। अतः भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित रसनिष्पत्ति नहीं हो सकती यह कहकर व्यक्तिवैचित्र्य का परित्याग उचित नहीं है। हमें तो यह देखना है कि उसके द्वारा मनोरंजन और ज्ञान प्राप्त होता है अथवा नहीं? और न उसका बहिष्कार इस आधार पर ही करना उचित है कि यह पाश्चात्य मस्तिष्क की देन है क्योंकि विचारविनिमय तथा आदान-प्रदान का यही तो लाभ है कि हम नूतन शुभ्र क्रिया, भाव-विचारादि को ग्रहण कर सकते हैं चाहे वह किसी भी देश के हों।

अस्तु, आधुनिक जीवन-निरूपण में चरित्रचित्रण शुभ तथा आवश्यक दोनो है। यह अवश्य है कि नाटक के आदि युग में चरित्र-

चित्रण के स्थान पर घटनाओं के उल्लेख पर अधिक ध्यान दिया जाता था किंतु तब के मानव में न तो परिस्थितिजन्य वैषम्य ही था, न उसकी क्रिया और भाव में असामंजस्य। फिर घटनाओं के पृष्ठतल में कार्यकारण का आग्रह ही कब था? अप्रत्याशित आकस्मिकता ही नाटकीयता थी। देवताओं की इच्छा, भाग्य, शाप आदि अनेक अदृश्य शक्तियाँ तथा उनकी प्रेरणाएँ ही विशिष्ट क्रिया करने को बाध्य करती थीं। किंतु आज का मानव भाग्य एवं अदृश्य शक्तियों में आस्था नहीं रखता, आकस्मिकता को भी वह अस्वाभाविक समझता है, उसे अब चरित्रगठन की तथा व्यक्तित्व-प्रदर्शन की पूर्ण स्वतंत्रता है।

चरित्रचित्रण की अनुपेक्षणीयता

अतएव आधुनिक नाटककार का केवल घटित क्रिया का उल्लेख करना ही कर्तव्य नहीं रह गया है। अब तो उसे यह भी दिखाना आवश्यक है कि अमुक घटना क्यों हुई। इसी लिये आंग्ल नाटककार जोन्स ने कहा है 'कहानी, घटना एवं परिस्थिति बिना चरित्र-विकास के प्रभावहीन होगी। चरित्रचित्रण का नाटक में प्रमुख स्थान है।'[1] मानव जीवन में जबतक संघर्ष बाह्य था, तब तक उसी के अनुकरण में नाटक व्यस्त रहा, फलतः व्यक्तित्व-प्रदर्शन अथवा चरित्रचित्रण पर उसका ध्यान अधिक न रहा किंतु सभ्यता के विकास के साथ संघर्ष अंतर्मुखी होता गया और आज उसका रूप आत्मिक एवं आध्यात्मिक अवस्थितियों के विरोध में स्फुटित हुआ है। इसी कारण कालिदास तथा युरीपिडीज की रचनाओं में बाह्य-विभीषिका का ही निरूपण हुआ किंतु अवचेतन में विश्वास

अवचेतन का चित्रण

१-जोन्स-द रिनाइसेन्स आव् द इंगलिश ड्रामा।

करनेवाला अंग्रेज नाटककार पिनरो अवचेतन पर पड़े स्तरों को उधेड़ करके ही संतोष करता है।

चरित्रविकास

नाटक की मुख्य विशेषता चरित्रचित्रण है। मानव के गुणावगुण एवं परिस्थिति तथा उसकी क्रिया और प्रतिक्रिया, अनुपात में अंतर लाना ही चरित्र का क्रमिक विकास है। 'संन्यासी' की 'मालती' से जब हम सर्वप्रथम मिलते हैं तो उसे विश्वकांत से प्रेम करते पाते हैं। किंतु गंभीर परिस्थितियों के झकोरों से उद्वेलित होकर वह रमाशंकर से विवाह कर लेती है तथा विश्वकांत को संन्यासी बने रहने की दीक्षा देती है। इसी प्रकार 'रासमर होम' में प्रथम साक्षात्कार में हम 'रेबेका' को रासमर की पत्नी की मित्र तथा सपरिवार की निःस्वार्थ शुभचिंतिका के रूप में पाते हैं परंतु अंत में यवनिका पतन से पूर्व हम उसी रेबेका को रासमर की पत्नी की हत्याकारिणी के रूप में देखते हैं। पर यह परिवर्तन आकस्मिक नहीं है अपितु चरित्रचित्रण के द्वारा मालती और रेबेका का चरित्र स्पष्ट हो जाता है और अंत आते तक हम उनके चरित्र में जो परिवर्तन पाते हैं वह अस्वाभाविक या विस्मयजनक नहीं लगता।

चरित्रचित्रण के साधन

आदि युग में चरित्रचित्रण के मुख्य साधन चरित्रविशेष की क्रियाएँ रही हैं। किंतु केवल क्रिया व्यापार द्वारा आधुनिक चरित्र का संपूर्ण चित्र देना असंभव प्रयास है। इसी लिये आदि युग में चरित्र उद्घाटन के लिये स्वगत भाषण का प्रयोग होता था। शेक्सपीयर के अधिकांश नाटक 'स्वगत' कथन से ही प्रारंभ होते हैं। 'अभिज्ञान शाकुंतल' का तो एक पूरा अंक ही 'स्वगत' भाषणों में है। किंतु प्राकृतिकता के आग्रह ने उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में 'स्वगत' का नाटक साहित्य से बहिष्कार कर दिया।

साथ ही साथ भारतीय नाटकों के विदूषक तथा चेटी, यूनान के कोरस, सेनेका के अभिन्न सखा एवं रोमांस संबंधी नाटकों की सखी आदि को भी विदा कर दिया गया। अब स्वतंत्र पात्रों का निर्माण होता है जिनके द्वारा नाटककार अन्य पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता है। शेक्सपीयर ने 'इनोबारबस' का ('एंटनी क्लियोटरा) तथा गेटे ने 'विंडनबूय' (एंपर हेनरिक) का इसी उद्देश्य से प्रयोग किया है।

कथोपकथन

कथोपकथन ही द्वारा पात्रों का चरित्र अनावृत होता है। चरित्र के विभिन्न तत्वप्रदर्शन इसी द्वारा अभिव्यक्त हुए हैं विशेषतः आधुनिक नाटकों में जब कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही अभीष्ट है। नाटककार पात्रविशेष तथा संपर्क में आनेवाले सभी गौण पात्रों को लेकर एक ऐसी परिस्थिति की सृष्टि करता है जिसमें उपयुक्त अवसर के अनुकूल प्रतिक्रिया स्वयं ही पात्रों की वाणी में फूट पड़ती है। उनके एक-एक शब्द में उनके भावों और विचारों का सागर लहराता है और उनका व्यक्तित्व स्वयं आगे बढ़कर उनके चरित्र को प्रकाशित कर देता है, यथा—

'तब क्या ? कुछ नहीं। हमारी अपनी जिंदगी रहेगी। कोई क्या कहता है······उसकी चिंता हम लोग नहीं करेंगे। हम लोग तो सचमुच बुरे हैं······कहनेवाले तो उनको भी बुरा कहते हैं-जो बुराई जानते ही नहीं······जैसे शर्मा जी को। मेरे लिये वे इतने बदनाम हुए। किसको पता है कि आज तक उन्होंने मेरी परछांई भी नहीं छुई।'

मिश्रजी रचित 'मुक्ति का रहस्य' की मुख्य नारी पात्र 'आशा देवी' का यह कथोपकथन उसकी व्यक्तिगत विशेषता तथा विवशताओं को पूर्णरूपेण प्रत्यक्ष कर देता है। इसी प्रकार प्रसाद जी के प्रसिद्ध नाटक 'स्कंदगुप्त' की नायिका के इस कथन में—

'हृदय की कोमल कल्पना। सो जा। जीवन में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आए हुए लौटा दिया था, उसके लिये मचलना क्या तेरे लिये कोई अच्छी बात है? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा–सबसे मैं विदा लेती हूँ।'–वेदना साकार हो उठी है। देवसेना का तापसी जीवन मुखरित हो उठा है और नैराश्य निमज्जित वीतराग, सूक्ष्म शब्दों के माध्यम से हृदय के अंतर्द्वंद्व को अनावृत किए हुए उसकी चरित्रगत विशेषता को आलोकित कर रहा है।' तात्पर्य यह कि कथोपकथन के माध्यम से चरित्रचित्रण के द्वारा नाटककार अपने पात्रों की व्यक्तिगत, जातिगत, समाजगत आदि सभी विशेषताओं एवं विवशताओं को प्रत्यक्ष कर देता है।

किंतु चरित्रचित्रण के विकास में मुख्यतः दो वस्तुओं पर ध्यान रखना आवश्यक है। एक है संकेंद्रण और दूसरी है निष्पक्षता।

चरित्रचित्रण के गुण

संकेंद्रण द्वारा केवल मुख्य तथा प्रभावपूर्ण गुणों पर ही अधिक बल दिया जाता है। विशिष्ट कलाकार उन्हीं विशेषताओं का अनुसंधान करके प्रेक्षक के संमुख रखता है जिनसे पात्र का व्यक्तित्व स्पष्ट लक्षित हो। 'किरणमयी' पुरुष द्वारा छली नारी है। अब प्रतिशोध में सारी पुरुष जाति को आकर्षित करके उससे मिलकर, प्रेमाकांक्षी बनाकर उसके अहं को कुचल देना चाहती है। केवल पति 'दीनानाथ' को नहीं, प्रेमी 'मुरलीधर' को नहीं, वरन् 'विश्वकांत' को भी जिससे कि उसका किसी प्रकार का संबंध नहीं था। मालती से कहती है—'उस समय चिरंतन नारी ने पुरुष की अहंमन्यता पर विजय पाई है, तुम्हारी विजय हमारी विजय है–सारी स्त्री जाति की'……। केवल चार शब्दों में 'मिश्रजी' ने उसका संपूर्ण व्यक्तित्व स्पष्ट कर दिया है। इसी प्रकार के चित्रण में डा० रामकुमार वर्मा भी विशेष पटु हैं। उनके नाटकों में एकांकी होने के कारण चरित्रचित्रण का योग असंभव था किंतु उतनी ही प्रसारहीन सीमा में

उनके द्वारा पात्रों की विशेषता एवं व्यक्तित्व का बड़ा सफल उद्‌घाटन हुआ है। केवल एक गहरी रेखा, फिर दो तीन क्षीण रेखाएँ और संपूर्ण व्यक्तित्व उभर आता है। 'अट्ठारह जुलाई की शाम' में केवल छः शब्दों द्वारा—

'बहुत, बहुत अच्छा। उषा। ओ० के०'–किसी वाचाल, शब्दपटु एवं धूर्त प्रेमी का चित्र सिमटकर संमुख आ जाता है।

निष्पक्षता चरित्रचित्रण का अनुपेक्षणीय गुण है। कलाकार तटस्थ रहकर विचारक के मंच पर स्थापित होकर ही पात्रों का वास्तविक चित्रण कर सकता है। गैल्सवर्दी की सफलता का यही रहस्य है कि यह पता चलाना कठिन हो जाता है कि उसकी सहानुभूति किस पक्ष में है। उसके 'स्ट्राइक' नाटक के दो मुख्य पात्र हैं–जान एंथनी पूँजीपतियों का प्रतिनिधि तथा आयर्न प्लेट वर्क्स के संचालकों का अध्यक्ष एवं डेविड राबर्टस्, श्रमिकों का प्रतिनिधि तथा उसी कारखाने का इंजीनियर। दोनों के ही चरित्रचित्रण में किसी पक्षपात की रेखा दृष्टिगत नहीं होती, दोनों के दृष्टिकोण को यथातथ्य प्रेक्षक के संमुख रख दिया है।

एंथनी कहता है—'एक बात श्रमिकों की मान लो, और फिर उनकी बातों का अंत न होगा।'–यह केवल मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रतिद्वंद्वी की क्षीण से क्षीण दुर्बलता से प्रोत्साहित होकर हम उसे आमूल नष्ट करने पर तुल जाते हैं। बस, अपनी जाति की रक्षा के लिये एंथनी श्रमिकों की माँग को संतुष्ट नहीं करना चाहता। उधर उतनी ही चिंता राबर्टस् की है, वह श्रमिकों के प्रति पूँजीपतियों की क्रूरता को नष्ट कर देना चाहता है। वह कहता है—

'और धन–धन वह वस्तु है जो श्रमिकों के स्वेद तथा मस्तिष्क की घोर यंत्रणा को अपने ही मूल्य पर मोल लेता है।'–यह भी जीवन-

तथ्य है कि मानव सदा अपने इष्टार्थ दूसरे के अभीष्ट की उपेक्षा करता है। इससे भी राबर्टस् की सच्चाई में भी हमें विश्वास होता है। निःसंदेह चरित्रचित्रण को सजीवता एवं आकर्षण प्रदान करने के लिये निष्पक्षता आवश्यक है अन्यथा पात्र केवल कठपुतली से जान पड़ेंगे।

अस्तु, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जीवन का वास्तविक अनुकरण करने के लिये एवं मानव से पूर्णतः परिचित होने के लिये चरित्रचित्रण एवं चरित्रविकास अनुपेक्षणीय साधन हैं तथा शुद्ध मनोवैज्ञानिक चित्रण है पात्रों के चरित्र एवं उनकी क्रियाओं में कथोपकथन द्वारा कार्यकारण का संबंध स्थापित करना। यह भी नितांत सत्य है कि 'आधुनिक जीवन को देखते हुए हमारे नाटकों को चरित्र-प्रधान होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति की रूपरेखा मनोभावों के विकासानुसार स्पष्ट होनी चाहिए।'[1] इसी लिये मनोविज्ञान की कसौटी चरित्रचित्रण को खरा पाती है।

१—डा० रामकुमार वर्मा—भूमिका 'रेशमी टाई' पृ० १८।

गुंफन

नाटक के मौलिक तत्त्वों में कहानी का प्रमुख स्थान है। किंतु नाटक की कहानी संपूर्ण जीवन की कहानी कदापि नहीं है। वास्तव में यह मानव-जीवन के किसी विशिष्ट अंश का ही निरूपण है। जीवन को घटनाओं का संग्रह अवश्य कहते हैं; किंतु नाटकीय जीवन में विशिष्ट घटनाओं का समावेश ही रुचिकर होता है, वह भी उनके महत्व के आधार पर। इसका मुख्य कारण यह है कि कलाकार का समय सीमित है अतः अनंत घटनाओं में से वह उन्हीं कणों को चुनता है जिन्हें महत्वपूर्ण समझता है अथवा जो अधिक प्रतीक-स्वरूप दर्शनीय हैं। 'सिंदूर की होली' में 'चंद्रकला', 'मनोरमा' तथा 'मनोजशंकर' की एक ही दिन की घटनाओं का चित्रण है। इसी प्रकार 'डाल्स हाउस' में केवल दो दिन का जीवन तथा स्ट्रिंडवर्ग के प्रसिद्ध नाटक 'फ्रिन' में तो केवल उतनी ही देर का जीवन निरूपित हुआ है जितनी देर तक नाटक रंगमंच पर प्रदर्शित होता है। वस्तुतः प्रत्येक घटना का न तो इतना महत्व है और न वह इतनी आकर्षक ही है। आकर्षण ही वह शक्ति है जो ध्यान को खींचती है एवं प्रवृत्ति को उद्दीप्त तथा उत्साहित करती है। इसी कारण कहानी में रमणीयता का होना आवश्यक है किंतु इसके लिये वस्तु का सुंदर, चमत्कारपूर्ण तथा अद्‍भुत का होना भी अनिवार्य है। तभी हमारी कुतूहल आदि प्रवृत्तियाँ जागरित होंगी और तभी उसे देखकर प्रसन्नता होगी।

सुंदरता का मुख्य साधन है वस्तुविशेष का सुव्यवस्थित तथा मोहक होना—यही गुण कहानी में अपेक्षित है। यह सुव्यवस्था तथा मोहकता घटनाओं के क्रमिक उतार-चढ़ाव में निहित है। घटनाओं के इसी उतारचढ़ाव को सुंदर रूप से प्रस्तुत करना ही 'गुंफन' कहलाता है। तथ्य तो यह है कि 'नाटकीय कहानी में घटनाओं का होना उतना आवश्यक नहीं है जितना कि इन घटनाओं को सजीव दृष्टि से देखकर उनकी व्यंजना में कथावस्तु का निर्माण कर लेना।'[1] अतः गुंफन के अंतर्गत दो समस्याएँ—एक तो घटनाओं का चयन, दूसरा घटनाओं का संकलन, अद्भुत होती हैं। इन्हीं दोनों से संबंधित प्रश्न है विविध उपकरण कथोपकथन आदि का।

गुंफन की विशेषता

कलाकार जीवन का यथातथ्य निरूपण नहीं करता। वह तो कुछ अंशों को छोड़कर, कुछ को अपनी कल्पना द्वारा जोड़कर जीवन की सृष्टि करता है। तभी तो उसकी रचना में रमणीयता को स्थान प्राप्त होता है। वस्तुतः प्रसिद्ध कलाकार ह्वीसलर के कथनानुसार 'संसार के भिन्न-भिन्न प्रकार के तथ्यों का अवधान आधिक्य तथा विविधता के कारण स्थिर नहीं हो पाता। उनमें से कुछ चुने हुए पर ही दृष्टिकोण किया जा सकता है।'[2] वस्तुचयन आवश्यक है किंतु प्रश्न यह उठता है कि नाटक की घटनाओं का चयन किस आधार पर होता है? इसका सूक्ष्म संकेत धनंजय ने 'दशरूप' में किया है। उनके कथनानुसार 'नीरस, अनुचित एवं विस्तार-सापेक्ष घटनाओं को संसूचित नहीं करना चाहिए, केवल मधुर तथा रस प्रदान करनेवाली

घटनाओं का चयन

१—डा० रामकुमार वर्मा—भूमिका 'रेशमी टाई' पृ० ७।

२—इंगलैंड का चित्रकार।

घटनाओं का निरूपण रुचिकर है ।'[1] यही बात यूरोप के विद्वानों ने भी कही है । अस्तु, प्रथम आधार घटना चयन की सरसता है–वह भी प्रसारहीन तथा उचित । किंतु प्रश्न यह है कि हम 'सरस' कहते किसे हैं? मनोवैज्ञानिक सरस उसे मानते हैं जो हमारी कुतूहल प्रवृत्ति को शांत करे । किंतु कुतूहल की रुचि जीवन की उन्हीं वस्तुओं के प्रति होती है जिनमें निरालापन तथा चमत्कार हो । निःसंदेह किसी मानव की नित्य की साधारण क्रियाओं को जानने की हमें उत्सुकता नहीं रहती अपितु हम असाधारणता की ओर आकर्षित होते हैं । इसी आधार पर नाटक में व्यक्तिवैचित्र्य का समावेश हुआ है–यही हमारे अवधान को केंद्रित करके हमारी रुचि को आकर्षित करता है । असाधारणता तथा अद्‌भुतता तभी आती है जब कि परिचित वस्तु के कुछ अंश को छोड़कर तथा कुछ अंश को चयन करके, हम एक अपरिचित तथा नवीन वस्तु का निर्माण कर लें । इसी लिये कलाकार 'दबी हुई बातों को उभारता है और आवश्यक बातों को काट छाँट कर एक सुनिश्चित गति और दिशा आँखों के सामने स्पष्ट करता है ।'[2] उदाहरणार्थ अश्क जी ने अपने नाटक 'भँवर' की नायिका 'प्रतिभा' के चरित्रचित्रण में उसके जीवन के उस अंश को बहिर्मुख कर दिया है जब कि वह प्रो० नीलाभ की ओर आकर्षित थी और वे उसकी ओर से उदासीन । किंतु वस्तुतः यही उसके जीवन की चूक थी जिसने उसको कभी विवाह की इच्छुक और कभी जीवन से भागती हुई दार्शनिक बना दिया । सच तो यह है कि कलाकार के चरित्रचित्रण की कला इसी में निहित है कि वह नाटक में से अनावश्यक, निरर्थक,

---

१—नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तारः ।
दृश्यतु मधुरोदात्त रसभाव निरंतरः ॥ प्र० प्रकाश, का० ५७ ।

२—डा० रामकुमार वर्मा—भूमिका 'रेशमी टाई', पृ० १३ ।

अप्राकृतिक तथा अनर्गल बातों को निकालकर उन्हीं तथ्यों का समावेश करें जिससे सामाजिक चेतना जागृत हो। प्रसिद्ध कलाविद् उडब्रिज का कथन है 'कलाकार का समय सीमित है। अतः अनंत घटनाओं में से वह उन विशिष्ट घटनाओं की क्रियाओं को चुनकर नाटक में शृंखलित करता है जो गुरुतर तथा भावपूर्ण होती हैं।'[1]

किंतु कहानी की सार्थकता घटनाओं के चयन मात्र पर ही निर्भर नहीं करती; अपितु उसे सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करना है, तभी प्रेक्षक की रुचि उद्दीप्त हो सकेगी तथा उसका ध्यान केंद्रीभूत हो सकेगा। गैल्सवर्दी के कथनानुसार 'स्वाभाविक कला साधारणतः सुकुमार प्रतीकों को शृंखलित करने की कला है। इसकी सेवा यह है कि मनुष्य से भावों का संकेंद्रण करे तथा उन्हें प्रभावित करे।'[2] यहाँ यह ज़ानना आवश्यक है कि घटनाओं के संकलन का आधार क्या है? अथवा उसको किस रूप में शृंखलित करें कि नाटक के उद्देश्य की सिद्धि हो और हम रसान्भूत होकर आनंद प्राप्त कर सकें। हम कह चुके हैं कि आनंद का प्रश्न प्रवृत्तियों से संबंधित है जो स्वयं विश्वसनीयता के सिद्धांत से अनुप्राणित हैं। वस्तुतः आज हमें आकस्मिकता में विश्वास नहीं है और न हमें अदृश्य शक्तियों की क्रियाओं में उतनी धारणा रह गई है। अब तो हम प्रत्येक वस्तु में कार्यकारण के संबंध ही को ढूँढ़ा करते हैं अन्यथा बोधगम्यता के अतिरिक्त विश्वासहीनता से तन्मयता में व्याघात होने की आशंका होगी और उस चरमावस्था तक पहुँचना ही दूभर हो जायगा जिसमें पहुँचकर हम रसानंद प्राप्त करते हैं। वस्तुतः 'कला चातुर्य' केवल इस

१—उडब्रिज–द ड्रामा इट्स ला एंड इट्स टेकनीक।

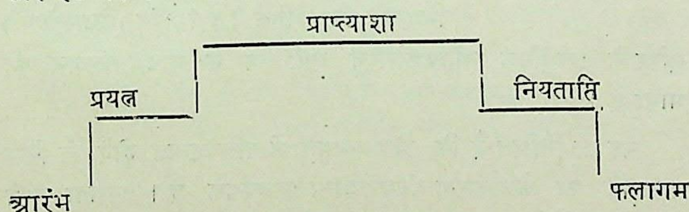
२—जान गाल्सवर्दी–सम प्लाटीट्यूड्स एबाउट ड्रामा।

बात में है कि घटनाओं को अधिक से अधिक घनीभूत करके उन्हें कार्य-कारण की मनोरंजक शृंखला में कस दिया जाय।'[1]

इसी मनोरंजक शृंखला की ओर कलाविदों का सदा से ध्यान भी रहा है। 'दशरूप' में पाँच अवस्थाओं का विवेचन हुआ है जिसका मुख्य कारण यही सुंदर संकलन है।[2] इसी के साथ-साथ संधियों का भी संकेत है जो क्रिया व्यापार को आरोहावरोह के आधार पर विभाजित करती हैं।[3] निःसंदेह बिना किसी आधार के नाटक में घटनाओं का संकलन असंभव है।

अवस्था

आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम के नाम से धनंजय ने पाँच अवस्थाओं की व्याख्या की है। इस स्थान पर यह जान लेना आवश्यक है कि भारतीय मतानुसार रूपक के दो भेदों, नाटक और प्रकरण, में फलागम अवश्य माना गया है और फल प्राप्ति के आधार पर ही इन अवस्थाओं का विवेचन भी है जिसका चित्र डा० रामकुमार वर्मा ने कार्य व्यापार के आरोहावरोह के अनुसार इस प्रकार खींचा है—



१—डा० रामकुमार वर्मा—'रेशमी टाई' की भूमिका पृ० ७।

२—अवस्थाः पंचकार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरंभ यान प्राप्त्याशा नियताप्ति फलागमः॥ प्र० प्र० का० १९।

३—अंतरैकार्य संबंधः संधिरेकान्वये सति॥ प्र० प्र० का० २३।

किंतु आधुनिक जीवन के निरूपण में, जिसमें फल प्राप्ति यदाकदा ही हाथ आती है और विफलता ही अधिक, इस प्रकार की अवस्थाओं का उपयोग नहीं हो सकता। अस्तु, आज के युग में ये यथावत् गृहीत नहीं की जा सकतीं।

अवस्था तथा अर्थप्रकृति के योग को संधि कहते हैं।[1] इनके भी धनंजय ने पाँच रूप बतलाए हैं तथा उन्हें मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण के नाम से पुकारा है। इनकी व्याख्या स्थान सापेक्ष होने से यहाँ करना उचित नहीं जान पड़ता। इतना अवश्य है कि यह भारतीय नाटकों की विशेषता है और इस तथ्य को सिद्ध करती है कि भारतीय कलाविदों ने नाटकों का बड़ा गूढ़ अध्ययन किया था। किंतु ये भी फलप्राप्ति की ओर ही उन्मुख करती हैं और जो आधुनिक जीवन में संभव नहीं हैं।

संधियाँ

संकलन के संबंध में पोयटिक्स में पाँच अवस्थाओं की व्याख्या की गई है—आरंभ (प्रोटैसिस) विकास (एपिटैसिस) चरम-सीमा (पेरिपेटिया) निगति (कैटावैसिस) एवं अंत (कैटास्ट्रोफ) युरोप के आधुनिक नाटककारों ने इसी रूप में नाटक संकलन को माना है।

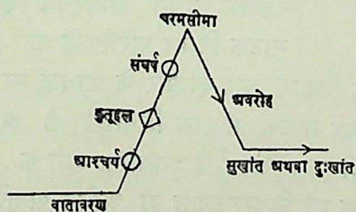
अरस्तू का मत

यह तो निश्चित है कि क्रियाव्यापार में रुचि उत्पन्न होने के लिये घटनाओं का कार्यकारण संबंध होना आवश्यक है। अथवा उसी घटना को पूर्व में आना चाहिए जो आने वाली घटना का कारण

१—अर्थप्रकृतयः पंच पंचावस्था समन्विताः ॥ २२ ॥
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पंचसंधयः ॥ २३ ॥
दशरूप प्र० प्रकाश

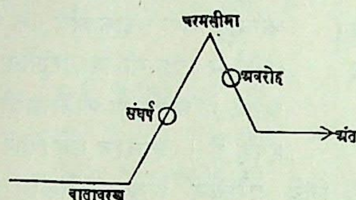
हो। अतः इस सिद्धांत को लक्ष्य मानकर सर्वप्रथम कथानक में उस वस्तु का होना आवश्यक है जिसके द्वारा एक बार ध्यान आकर्षित होकर क्रमशः बिना अवधान में व्याघात पाए प्रेक्षक अंत तक पहुँच जाय। इस संबंध में यह भी विचारणीय है कि नाटक के आदि में आकर्षण की सामग्री का होना आवश्यक है। प्राचीन कलाकार इसी आकर्षण को उत्पन्न करने के लिये प्ररोचन अथवा प्रोलोग का प्रयोग किया करते थे किंतु आधुनिक कलाकारों ने उन्हें अस्वाभाविक एवं अनावश्यक समझकर नाटक रचना से बहिष्कृत कर दिया है। इनके स्थान पर वे किसी प्रकार का मोहक वातावरण प्रस्तुत करके ही प्रेक्षक के ध्यान को आकर्षित करते हैं। वातावरण के अनंतर नाटक का प्रारंभ मुख्य पात्रों के चित्रण से होता है। तदुपरांत वह समय आता है जब कि पात्र संघर्ष की ओर उन्मुख होते हैं और उसी प्रकार उस चरमावस्था तक पहुँच जाते हैं जहाँ संघर्ष का प्रतिफलित होना आवश्यक हो जाता है अथवा निर्णय करने का अवसर नायक के जीवन में केंद्रीभूत होकर उत्पन्न हो जाता है। इसके अनंतर वह समय होता है जिसे हम झंझावात के पूर्व की शांति का समय कह सकते हैं और तब विस्फोट। यही प्राकृतिक नियम है और यही मनोवैज्ञानिक तथ्य है। अतः मनोवैज्ञानिक आधार पर कार्य व्यापार की रेखा इस प्रकार होगी—

अवस्थाओं का मनोवैज्ञानिक विवेचन

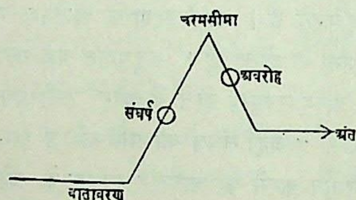


(डा० रामकुमार वर्मा)

किंतु आरोहावरोह की रेखा सभी नाटकों में इस प्रकार की नहीं होती। उदाहरणार्थ 'मुक्ति का रहस्य' की रेखा इस प्रकार होगी—



तथा इब्सन के 'डाल्स हाउस' की रेखा यों होगी—



आधुनिक नाटकों में अवरोह का स्थान अत्यंत क्षीण होता जा रहा है अतएव नाटक में क्रिया व्यापार का अनुकरण होने के कारण अवस्थाओं के आधार पर घटनाओं का संकलन होना आवश्यक है। वास्तव में नाटक विषम परिस्थियों का संग्रह होता है। अतः उसमें क्रमिक विकास कार्य व्यापार के आधार पर होना अनिवार्य है। परंतु आधुनिक नाटकों में बाह्य क्रियाओं के अनुकरण की रेखा क्षीण होती जा रही है। संघर्ष के आंतरिक होने के कारण मानव के हृदय तथा मस्तिष्क की क्रियाशीलता ही अधिक अपेक्षित है। जिसके लिये पात्रों के कथोपकथन का ही व्यवहार किया जाता है। उसी के

कथोपकथन

द्वारा हम मानव के अंतःस्तल में प्रवेश करके उसके भावों का निरूपण कर पाते हैं। इसी लिये कथोपकथन का नाटक के तत्वों में प्रमुख स्थान है। कथोपकथन में नाटकीयता का होना आवश्यक है। उसकी भाषा में गति, माधुर्य, ओज, प्रसाद तथा आकर्षक शब्दावली का आग्रह है। पात्रों की भाषा स्वाभाविक होनी चाहिए अर्थात् काल एवं अवस्थानुसार एवं योग्यता तथा परिस्थितियों के अनुकूल ही शब्दों का व्यवहार शुभ है। यद्यपि प्रसाद जी की भाषा के प्रति कुछ लोगों का कथन है कि वह अत्यंत क्लिष्ट तथा पात्रानुकूल नहीं है किंतु प्रसाद के सभी नाटक ऐतिहासिक हैं और जिनका संबंध गुप्त तथा मौर्यकाल से है। अतएव संस्कृतनिष्ठ भाषा ही उस युग के अनुकूल होगी। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में ओज, माधुर्य तथा प्रसाद गुण भी पूर्णरूपेण हैं और पात्रों के कथोपकथन मात्र से ही परिस्थिति तथा पात्र का संपूर्ण व्यक्तित्व साकार हो उठता है। उदाहरणार्थ 'ध्रुवस्वामिनी' में चंद्रगुप्त का यह कथन जहाँ उसके वीरत्व और मनोभावों को प्रकट करता है वहीं उस परिस्थिति को भी स्पष्ट कर देता है जिसने उसे ठेस पहुँचाई है—

'यह नहीं हो सकता। महादेवि! जिस मर्यादा के लिए—जिस महत्व को स्थिर रखने के लिए, मैंने राजदंड ग्रहण न करके अपना मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया, उसका यह अपमान। मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पददलित न होना पड़ेगा······'

भाषा को नाटकीय होने के लिये यह आवश्यक है कि उसके प्रत्येक शब्द व्यक्तित्व के विकास में किसी न किसी रूप में सहायक हों स्पष्टतः अथवा संकेतात्मक, अथवा भूत और भविष्य को लक्ष्य करके। प्रसारयुक्त वार्तालाप से नाटक की गति में शिथिलता आती है और नाटक की माँग सर्वदा तीव्रता की रही है। माधुर्य आदि गुण तो स्वयं-

सिद्ध हैं अतएव यहाँ उनका विवेचन करना अनावश्यक होगा। इसके अतिरिक्त प्रश्न 'स्वगत' तथा 'जनांतिक' का होता है। इसमें संशय नहीं कि प्राचीन कलाकारों ने इन दोनों का मुक्त रूप से प्रयोग किया है और इसमें संदेह नहीं कि इनके द्वारा पात्रों के मनोगत भावों का पूर्णतः परिचय प्राप्त होता है, जैसा कि आर्चर ने कहा है 'स्वगत और जनांतिक से परिपूर्ण नाटक उस चित्र सरीखा जान पड़ता है जिसमें चित्रित के मुख पर संकेत टिप्पणी (लेबल) लगा दी गई हो।'[1] निःसंदेह इनसे इस प्रकार की अस्वाभाविकता उत्पन्न होती है। दबे स्वर में बोलना तथा 'स्वगत' और 'जनांतिक' में बहुत अंतर है। जीवन में दबे स्वर में बोलना तो प्रायः होता है किंतु 'स्वगत' और 'जनांतिक' कभी नहीं होता और फिर डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में 'हमें तो वार्तालाप से घटनाओं के गूढ़ से गूढ़, आरोहावरोह का ज्ञान हो जाना चाहिए। शब्द, ध्वनि, व्यंजना हमारे भावों में सुख या दुःख का संपूर्ण मनोविज्ञान है।'[1] अस्तु, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कथोपकथन उचित और नाटकीय भाषा द्वारा कथानक में प्रयुक्त होता है तथा कथानक महत्वपूर्ण चुनी हुई घटनाओं का संग्रह है एवं कार्यकारण की शृंखलाओं से बँधा हुआ है। इस दृष्टि से गुंफन का नाटक के मौलिक तत्वों में समावेश है।

१—'रेशमी टाई' की भूमिका, पृ० १६।

१—आर्चर—आन प्ले मेकिंग।

रंगमंच और दृश्यविधान

नाटक की आधार शिला रंगमंच है–इसीके रूप और आकार पर वह सदा से आश्रित रहा है। शूद्रक एवं कालिदास के युग में दृश्य पटियों का विधान न होने के कारण उनके नाटक दृश्य वर्णनों से भरे हुए हैं। इसी प्रकार एसचिलस और सेनेका के भी। एलिजाबेथ प्रथम के समय में भी आधुनिक रंगमंचों की व्यवस्था न होने से शेक्सपीयर के नाटकों की दृश्य संख्या तथा क्रम आज उपहासजनक प्रतीत होते हैं। वास्तव में जार्दें का कथन उचित ही है कि 'नाटककार सदा रंगमंच की व्यवस्था आदि को देखकर नाटक लिखता है और कम से कम विचार रूप में निर्णय कर लेता है कि हमें नाटक में नियमों का पालन करना शुभ है अथवा नहीं। इसी लिये दृश्यों की संख्या एवं स्थूलत्व ने नाटक कला को सदा से प्रभावित किया है।'[1] यही कारण था कि ग्रीक रंगमंच पर गूढ़ विचारों के अप्रदर्शनीय होने के कारण विचारात्मक नाटकों का सृजन ही नहीं हुआ। किंतु रोमन रंगमंच पर केवल गंभीर जीवन ही अभिव्यक्त हो सकता था। इसी लिये सेनेका के नाटकों में गांभीर्य देखा जाता है। विपरीत इसके भारतीय रंगमंच अपने आकार प्रकार के नाते दोनों प्रकार के नाटकों की सृष्टि का कारण हुआ।

नाटक और रंगमंच

प्रसाद जी का कथन था—रंगमंच के संबंध में यह भी भारी भ्रम कि नाटक रंगमंच के लिये लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए

१—ई० बी० जार्डिन—द ड्रामा इन यूरोप एंड थ्योरी एंड प्रैक्टिस।

कि नाटक के लिये रंगमंच हो जो व्यावहारिक है।"[1] वस्तुतः यह प्रश्न विचारणीय है कि नाटककार रंगमंच के नियमों से बाध्य है या नहीं अर्थात् क्या वह उन्हीं नाटकों का सृजन कर सकता है जो उसके समय के देश तथा रंगमंच पर प्रदर्शित किए जा सकें? इस उत्तर का प्रश्न अपने ऐतिहासिक नाटकों की सृष्टि करके प्रसाद जी ने 'हाँ' में ही दिया है। उनका एक भी नाटक (ध्रुवस्वामिनी को छोड़) ऐसा नहीं है जिसमें दूरवर्ती दृश्य और संख्या का बाहुल्य न हो। इसका मुख्य कारण यही है कि उनके नेत्रों के संमुख उस समय का पारसी रंगमंच था जिसमें अनेक अंतःपटियों तथा पार्श्वकों का प्रयोग होता था और इच्छानुसार दृश्य परिवर्तन किए जाने की सुविधा थी। उदाहरणार्थ 'स्कंदगुप्त' के प्रथम अंक में आए सात दृश्यों के मध्य प्रेक्षक को कभी उज्जयनी, कभी कुसुमपुर और कभी अवंती दुर्ग, जाना पड़ता है—केवल कुछ ही क्षणों में। यह अंतःपटीवाले रंगमंच का ही प्रभाव है अन्यथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रकार का असंभव दृश्य परिवर्तन बोधगम्यता पर व्याघात करता है, कम कें कम तन्मयता नहीं आ पाती। आदर्श रूप में प्रसाद जी का कथन अवश्यमेव तथ्यपूर्ण है किंतु यथार्थत्व में सर्वतः अव्यावहारिक है।'

रंगमंच के परिवर्तन के साथ नाटक के रूप का परिवर्तन होना ऐतिहासिक तथ्य है। केवल इब्सन और शा ही ऐसे नाटककार हैं जिन्होंने तत्सामयिक नियमों का अतिक्रमण करके नूतन प्रकार के नाटक रचने का साहस किया। किंतु इसका मुख्य कारण यह था कि जिस प्रकार के रंगमंच की उन्हें आवश्यकता थी वह वैज्ञानिक कौशल से सुविधापूर्वक निर्मित किए जा सकते थे। पुनः उनके परिवर्तन के लिये किसी विशिष्ट उपकरण की आवश्वकता न थी। अधि-

---

१—स्व० जयशंकर प्रसाद—रंगमंच—पृ० ७६।

कांशतः सामाजिक नाटक हैं जिनके लिये केवल तीन दीवारों का कमरा तथा उसके सुसज्जित करने के साधारण साधन समुचित थे। फिर इब्सन के नाटकों के लिये भी इंगलैंड ऐसे समृद्धिशाली कला आग्रही देश में सन् १८६० के लगभग ही रंगमंच का प्रबंध किया जा सका। यही शा के नाटकों के संबंध की कथा है। वास्तव में यदि नाटक दृश्य काव्य है तो उसके प्रदर्शन का विचार अनुपेक्षणीय है और प्रदर्शन का मुख्य स्थान है रंगमंच। इसीलिये ड्यूक्स ने कहा है 'रंगमंच नाटककार से महानतर होता जा रहा है।'[1] व्यावहारिकता के विचार से यह कथन तथ्यपूर्ण है। प्रत्येक नाटक के लिये नवीन रंगमंच निर्मित नहीं किया जा सकता, अतः नाटक और अभिनेयता के पारस्परिक सामंजस्य के लिये नाटककार को रंगमंच संबंधी नियमों का पालन करना अनिवार्य है। हाँ, यदि नाटक केवल पठन के लिये लिखा जाय जिसकी अवस्थिति भ्रममात्र है क्योंकि नाटक श्रव्य काव्य नहीं है तो नाटककार को स्वतंत्रता है कि अपने इच्छानुसार नाटक का सृजन करे।

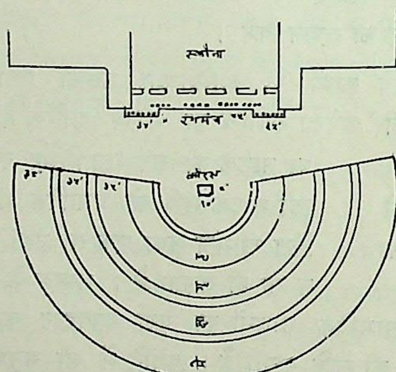
रंगमंच की आवश्यकता

नाटक, दृश्य काव्य है, अभिनेयता उसका प्रधान गुण है। अतएव नाटक की अपेक्षा रंगमंच का महत्व अधिक है क्योंकि उसी पर नाटक की सफलता निर्भर रहती है और वही नाटक सृष्टि को प्रभावित भी करता है। किंतु रंगमंच सदा एक सा नहीं रहा है और न रह ही सकता है। मानव के भाव विचार एवं आकांक्षाएँ सामयिक साधनों का पूर्ण व्यवहार करके नित्य ही नवीन उपकरणों की सृष्टि करती हैं। आदि में तो मनुष्य प्रकृति पर आश्रित था जो सामग्री उसके द्वारा प्राप्त हो सकती थी उसी का उपयोग करके अपने को सुखी कर लेता था। यही कारण था कि

१—एश्ले ड्यूक्स–ड्रामा।

एसचिलस के समय का रंगमंच चबूतरा मात्र था जिसके पृष्ठतल में स्कीना होती थी जिसपर मंदिर अथवा प्रासाद के चित्र बने रहते थे। स्कीना के पीछे नेपथ्य गृह था। रंगमंच के संमुख और प्रेक्षकों के बैठने के स्थान से कुछ आगे एक और चबूतरा होता था जिसपर कोरस मंडली बैठती थी जो समय समय पर संगीत का उपयोग करके प्रेक्षकों के हृदय को आर्द्रित करती थी। प्रेक्षागृह आच्छादित नहीं होता था, उसमें अर्धगोलाकार सोपानवत् बैठने का स्थान होता था। इससे पता चलता है कि वायुमंडल में ही प्रेक्षागृह का निर्माण होता था या तो किसी देवालय के पास अथवा किसी पर्वत के पार्श्व में। (देखिए चित्र सं० १)

चित्र सं० १

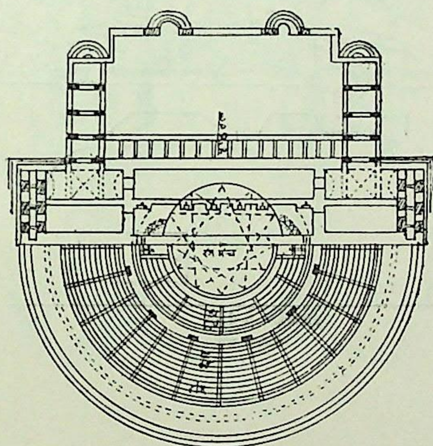


डायोनिसस का थियेटर
५ शताब्दी ई०

यूनानी सभ्यता तथा साहित्य के नष्ट होने पर रोमनों ने नाटक साहित्य सृष्टि का तो उपक्रम किया किंतु रंगमंचों की ओर विशेष

ध्यान न दिया। ईसा से लगभग १०० वर्ष पूर्व तक काष्ठ के रंगमंच किसी गली में खड़े कर दिए जाते थे और प्रेक्षक उसके चारों ओर खड़े होकर अभिनय देख लेते थे। किंतु पाम्पी ने अपने राजत्वकाल में (१०६–४४ ई० पू०) पत्थर का वृहदाकार नाट्यमंडप बनवाया। यह ग्रीक रंगमंच की भाँति केवल चबूतरा न होकर पूरा मंच बन गया तथा रंगपीठ का संपर्क प्रेक्षक के निकटतम कर दिया गया। इसमें तीन प्रकार के दृश्यों का विधान था गृहों के संमुख भाग का, गवाक्ष, वातायन आदि का तथा ग्रामीण दृश्यों का। दीवालें सुंदर दृश्यों तथा देवताओं के चित्रों से खचित होती थीं। (देखिए चित्र सं० २)

चित्र सं० २

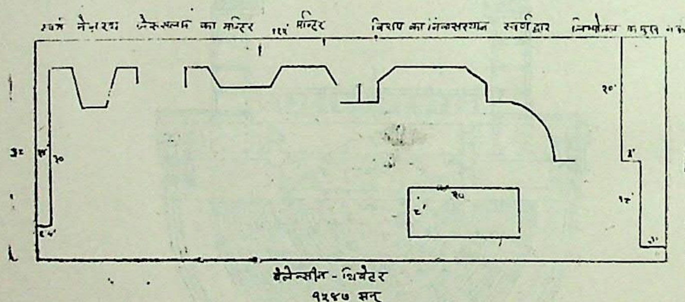


मार्सेलस थियेटर - रोम
५५ - ५२ ई० पू०

कालांतर में, ईसाई पादरियों की अधिकार प्रबलता के कारण

नाटकगृह बंद कर दिए गए और १५वीं शती तक यूरोप में स्थायी रंगमंच का नाम निशान भी न था। किंतु पुनरुत्थान युग के आते ही (सोलहवीं शती में) प्रत्येक प्रदेशों में नाटक के प्रति सुप्त भावना जागरूक हो उठी और रंगमंचों का पुनः निर्माण हुआ। इस संबंध में नाट्यशास्त्र की भाँति 'विट वियुस डी आरकिटेक्चरा' नामक एक पुस्तक का प्रणयन हुआ जिसने युरोप के रंगमंच संबंधी विकास में वड़ा हाथ बँटाया। इस समय के नाट्यगृहों में प्रेक्षकों के बैठने तक के नियम वन गए थे। (देखिए चित्र सं० ३)

चित्र सं. ३

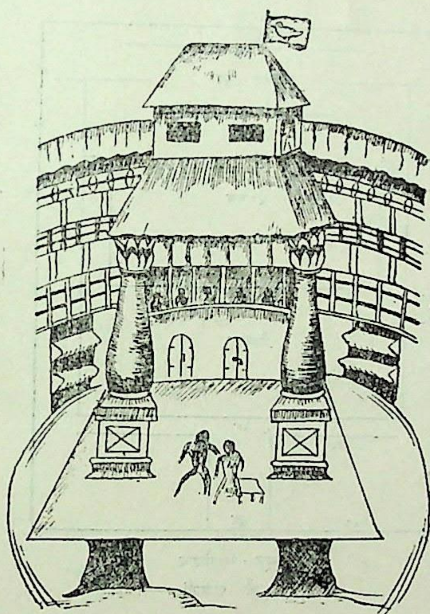


वैलेन्सीन - थियेटर
१५४७ सन्

शेक्सपीयर के काल में रंगमंचों में अंतःपटियों तथा यवनिका का प्रयोग नहीं होता था। उस समय के रंगमंच (स्वान थियेटर

चित्र सं० ४) के रंगपीठ के तीन विभाग होते थे—प्रारंभ में गली आदि के दृश्य, मध्य में प्रासाद आदि के तथा अंत में दुर्ग के दृश्य

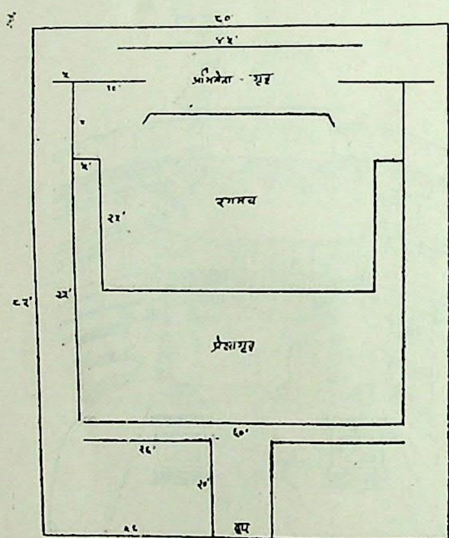
चित्र स० ४



स्वान थियेटर
१६वीं शताब्दी

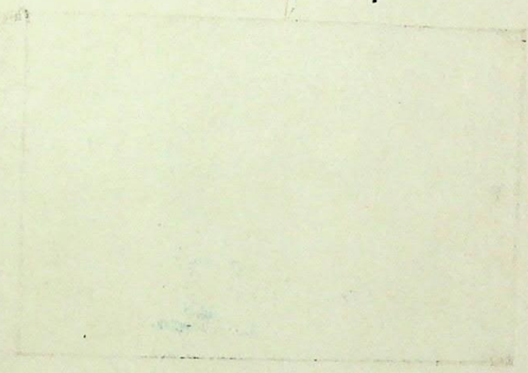
प्रयुक्त होते थे। इसी प्रकार का फारचून थियेटर (चित्र नं० ५)

चित्र सं० ५

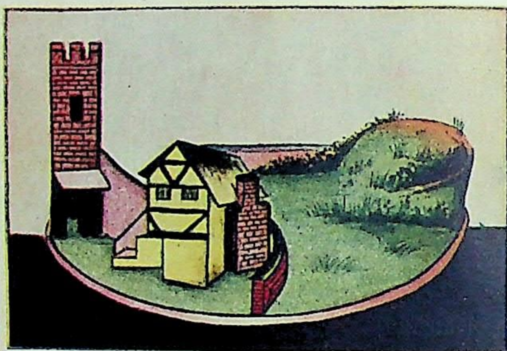


फारचून-थियेटर
१६वीं शताब्दी

भी है जो उसी समय बना था। फ्रांस में हाव्यूं तथा मालियर के समय में रंगपीठ नौ से बारह फीट तक ऊँचा, सौ फीट लंबा और



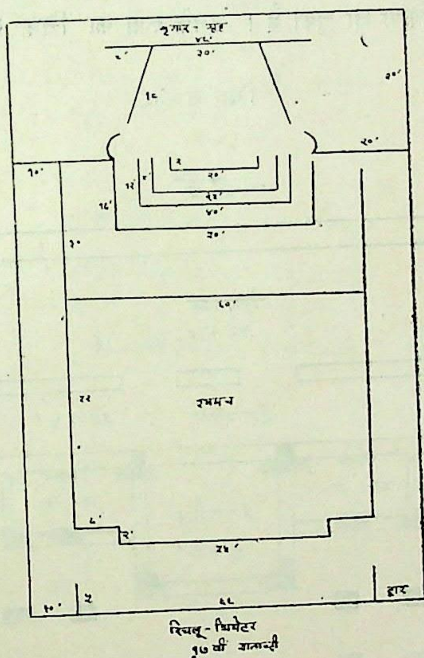
चित्र सं० ७



घूमनेवाला रंगमंच
ट्यूडर थियेटर, १६वीं शताब्दी

छियालीस फीट चौड़ा होता था। अतएव पात्रगण रंगपीठ के संमुख अंतिम छोर तक आकर अभिनय करते थे। (देखिए चित्र सं० ६)

चित्र स. ६



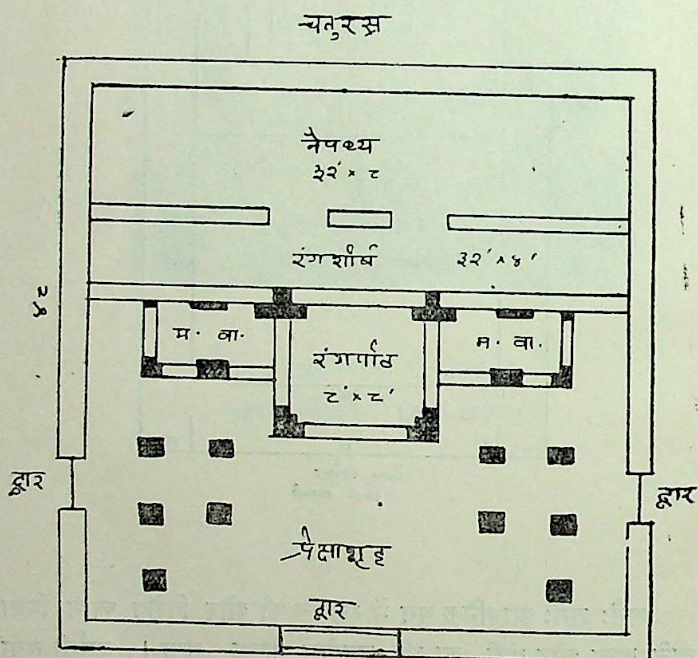
स्विलू - थियेटर
१७ वीं शताब्दी

शनैः शनैः आधुनिक युग में रंगमंच की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा और यंत्रों का भी उपयोग किया गया। जर्मनी तथा आस्ट्रिया में घूमनेवाले रंगमंच (रिवाल्विंग स्टेज, चिंत्र सं० ७)

तथा ऊपर नीचे जानेवाले रंगमंच (स्लाइडिंग स्टेज) का उपयोग होने लगा। इसी समय यथातथ्यवादी नाटककारों का भी जन्म हुआ और वे रंगमंच के बाह्योपकरण की उपेक्षा करके आंतरिक साधनों की ओर विशेष उन्मुख हुए।

भारतीय रंगमंच का अधिकांश विवेचन 'नाटक के मौलिक तत्वों' के अंतर्गत किया जा चुका है। उनके रूपों का चित्र सं० ८, ६, १०

चित्र सं० ८



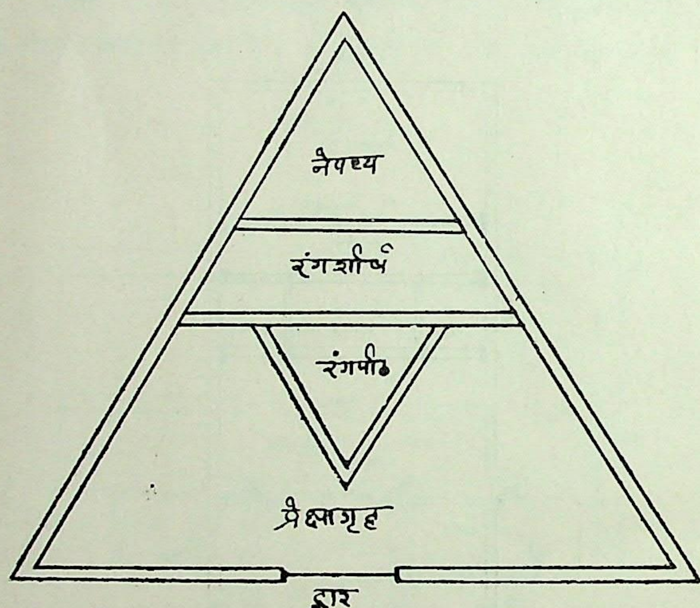
में दिया गया है। अपने समय के विचार से (कम से कम रोमन तथा ग्रीक रंगमंचों की अपेक्षा) भारतीय रंगमंच अधिक सुंदर और

चित्र सं. ८

भव्य थे। यह दुःख की बात है कि भारत के नाट्यशास्त्र के आधार पर निर्मित नाट्यमंडप दृष्टिगत नहीं हैं। सीतावेंगी की कंदरा में किसी गृह के अवशेष जिन्हें पाश्चात्य विद्वान् ग्रीक के आधार पर बना नाट्य-मंडप का अवशेष बतलाते हैं, है तो रंगशाला ही किंतु कंदरा का प्रसार इतना नहीं है कि भारतीय अथवा ग्रीक दृष्टि से नाट्यमंडप का

अनुमान किया जा सके। भरतमुनि के अनंतर सार्वजनिक रंगमंच के विवेचन का पूर्ण अभाव है। 'शिल्परत्न मानसर' तथा 'संगीत रत्नाकर'

चित्र सं० १०



में राजप्रासादों से संबंधित प्रेक्षागृहों का सूक्ष्म विवेचन है और 'भाव प्रकाशन के विवरण से नाट्यमंडप का क्षीण आभास होता है। इसके अनंतर भारतीय रंगमंच की रूपरेखा नष्ट हो गई है। कम से कम उत्तर भारत में नाट्यमंडप का अभाव बहुत काल से चला आ रहा है। कलकत्ते में १८वीं तथा १६वीं शती में कतिपय अंग्रेजी तथा बंगाली नाट्यमंडपों का निर्माण अवश्य हुआ किंतु हिंदी संसार

उनसे अधिकतर अपरिचित ही रहा। उसका अधिक संसर्ग पारसी कंपनियों से रहा जो भारत के नगरों में घूम घूमकर बल्लियों पर रंगमंच बनाकर अंतःपटियों का प्रयोग करके अभिनय दिखाते थे। यह उन्नीसवीं शताब्दि के पूर्वार्ध के अंग्रेजी रंगमंचों के विकृत अनुकरण थे जिनका किसी भी साहित्य पर शुभ प्रभाव नहीं पड़ सकता था।

रंगमंच के अंतर्गत ही दृश्य विधान, यवनिका, तिरस्कारिणी आदि का उपयोग आता है। वस्तुतः ध्यानपूर्वक देखने पर अभिनय में हम वास्तविकता की भ्रांति चाहते हैं। काल्पनिक परिस्थिति में, काल्पनिक व्यक्तियों की, काल्पनिक क्रियाओं, भाव, विचारादि का यथातथ्य रूप देखने का ही प्रयास प्रेक्षक करता है और उनको प्रदर्शित करते हैं अभिनेता एवं संचालक। अतः कला को स्वाभाविकता एवं यथार्थता से समन्वित करने के लिये तथा नाटकों में वर्णित विविध दृश्यों को, स्थानों को, सारांशतः सारे वातावरण को प्रस्तुत करने के लिये कतिपय बाह्य उपकरणों की आवश्यकता होती है यथा दृश्यखचित अंतःपटियाँ तथा पार्श्वक। इन्हीं के आधार एवं संसर्ग से अभिनय सफलता प्राप्त करता है। किंतु इनका प्रयोग नाटकों के आदि युग में नहीं हुआ। नाट्यशास्त्र में पटाक्षेप (ड्राप सीन) रंगमंच और अंतःपटियों के विधान नहीं देख पड़ते। यवनिका शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है किंतु डा० कुमार स्वामी का कथन है कि वह नेपथ्यगृह के द्वार पर पड़ी पटियाँ थीं।[1] शूद्रक तथा कालिदास के नाटकों में दृश्यांतरों की अवस्थिति से हम अनुमान मात्र कर पाते हैं कि भारतीय रंगमंचों पर संभवतः अंतः-पटियों का प्रयोग हुआ होगा। इसी प्रकार का संकेत कक्षा विभाजन से मिलता है।

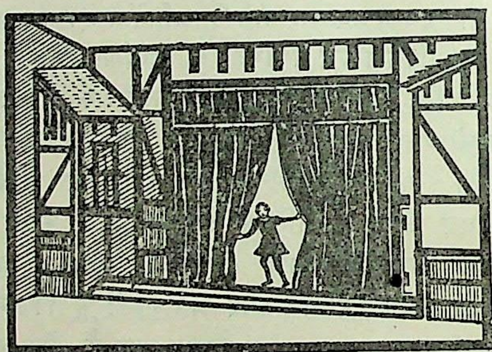
दृश्यविधान तथा अन्य उपकरण

१—इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली नाइंथ वल्यूम, पृ० ५९४

यूरोप में भी एसचिलस आदि के नाटकों के प्रदर्शन में अंतःपटियों आदि का उपयोग नहीं होता था। इन्हीं के अधिकांश रूप एवं आधार पर रोमन नाट्यमंच थे। इंगलैंड में तो शेक्सपियर के समय तक दृश्यों अथवा यवनिकाओं का आयोजन नहीं हो पाया था और 'रोमियो जूलियट' में रोमियो और जूलियट से मध्यवर्ती दीवाल के स्थान पर किसी अभिनेता को खड़ा करके यह अनुमान कर लिया जाता था कि दोनों के मध्य में एक दीवाल खड़ी है।

किंतु सत्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध में आस्ट्रिया निवासी 'वरना सीनी' ने ही सर्वप्रथम चमत्कारी तथा खचित दृश्यों की योजना की।[1]

चित्र सं. ११



ईस्ट लंदन कॉलेज थियेटर

रंगी हुई चित्रित पार्श्वपटियों तथा वस्त्र पर खचित सुंदर भावुक दृश्यों का उपयोग हुआ, तभी से रंगमंचों पर इसी प्रकार के खचित प्राकृतिक दृश्यों की प्रथा सी चल पड़ी। मॉलियर के समय में इसी

१—वरनासीनी – न्यू थियेटर।

प्रकार की चित्रलिखित यवनिकाओं द्वारा पृष्ठ पीठिका बनाई जाती थी। फिर विज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ दृश्यों के रूप में भी परिवर्तन होने लगे और अधिकाधिक स्वाभाविकता लाने के लिये सभी प्रकार के उपकरणों का प्रयोग हुआ। दृश्य विधान एवं रंग के उपयोग से समवेदना, भय, उत्साह, सुख दुःख के भाव आदि का प्रदर्शन होना आरंभ हुआ। फिर ज्यों ज्यों नाटक कला कौशल में वृद्धि होती गई उपयुक्त प्रभाव डालने के लिये नवीनतर साधनों का व्यवहार हुआ। वास्तव में यूरोप के अभिनय का इतिहास पाश्चात्य कल्पना और प्रतिभा का सजीव उदाहरण है। जघन प्रकाश (स्पाट लाइट) क्षेपक यंत्र (प्रोजेक्टर) गतिशील प्रकाश (फ्लाएट्स) रंगमंच के छोर का प्रकाश (फूटलाइट) तथा बिजली के प्रकाश के जघन खंभों आदि के प्रयोग समय समय पर किए जाने लगे।

वस्तु, अभिनय इतिहास में हम एक ओर तो केवल चबूतरे पर अभिनय किया जाना, और दूसरी ओर बर्लिन, म्यूनिक में 'लाटेन श्लेगर' के घूमते हुए एवं 'ड्यूसेंस ओपर्नहास' के ऊपर नीचे जाते हुए रंगमंच एक ओर दृश्यविहीन अभिनव और दूसरी ओर स्वाभाविक वातावरण एवं उपयुक्त प्रभाव डालने के लिये सभी प्रकार के साधनों का उपयोग पाते हैं। जर्मनी और रूस के विशालाकार नाट्य-मंडप उनके अभिनय कौशल की विविध सामग्रियाँ इसी ओर संकेत करती हैं कि अभिनय को सफल करने के लिये एवं प्रेक्षक की मनोवैज्ञानिक सुविधा के लिये सभी प्रकार के उपकरणों का व्यवहार होना कल्याणप्रद है। किंतु यह प्रश्न अब तक रह गया है कि रंगमंच किस प्रकार के होने चाहिए तथा उनके उचित उपकरण क्या होंगे।

इस संबंध में संसार की अन्य विचारणीय बातों की भाँति इसमें

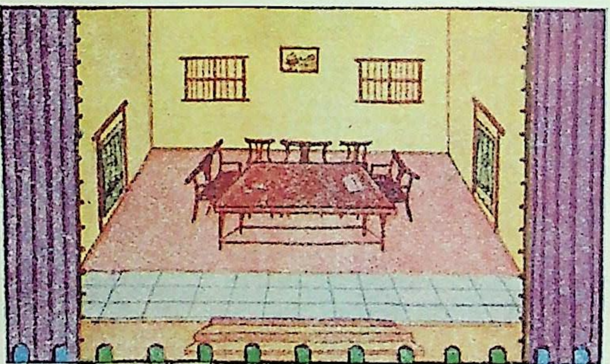
भी नितांत मतभेद है। यथातथ्यवादी तो नाटकीय भ्रम को सर्वतः पूर्ण करने की ओर संकेत करते हैं। उनका कथन है कि नाटक प्रदर्शन में यथातथ्य वातावरण उत्पन्न करना परमावश्यक है इसलिये प्राकृतिक दृश्यों को रंगमंच पर नहीं आने देते, केवल अभिनेय जीवन के वास्तविक निरूपण में प्रयत्नशील हैं। इनके विरोध में क्रेग, इवरीनाफ एवं कोपो हैं जो प्रभाववादी हैं। इसीलिये ये प्रकाशादि को घटा बढ़ाकर मनोनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। इनसे भिन्न मार्ग भविष्यवादी कलाकारों का है जो रंगमंच को जादू का नगर बनाकर निरर्थक चित्र एवं रंगपीठ को ऊँचा नीचा करके प्रेक्षक को अपने इंद्रजाल से चमत्कृत करके प्रसन्न करते हैं।

मतविभिन्नता

इसी प्रकार का मतभेद संकुल तथा साधारण मंचों के संबंध में है। कुछ तो घूमनेवाले अथवा ऊपर नीचे जानेवाले विशालाकार रंगमंचों का प्रयोग करना चाहते हैं और कुछ लोग साधारण रंगमंच (रिपर्टरी थियेटर) का ही प्रतिपादन करते हैं। अस्तु इस मत विभिन्नता ने दोनों प्रकार के मंच एवं दृश्य विधान को जन्म दिया है।

किंतु इसपर विवेचन करने से पूर्व हमें यह जान लेना आवश्यक है कि वास्तव में नाट्यकला द्वारा हमारा क्या अभिप्राय है और उसके द्वारा क्या संभव है। नाटक द्वारा हम किसी विशिष्ट परिस्थितिग्रस्त मानव के जीवन का चित्रण करते हैं और हमारा प्रयास यह होता है कि यथाशक्ति उस चित्र को उसी रूप में प्रस्तुत करके अथवा कम से कम तदनुरूप प्रभाव उत्पन्न करके प्रेक्षक को तन्मयीभूत कर दें। इसीलिये यथासंभव अभिनेता द्वारा वैसी ही परिस्थिति का आभास देकर उसी प्रकार के भाव अनुभाव आदि का प्रदर्शन करते हैं। अस्तु, नाटक के अभिनय में यथातथ्यता, स्वाभाविकता एवं प्राकृतिकता का समावेश आवश्यक है। कलाकार विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने में

चित्र सं० १५



'सिंदूर की होली' के उपयुक्त रंगमंच

प्रयत्नशील रहता है और बिना परिस्थिति के पृष्ठतल के, प्रभावोत्पादकता दुष्कर है। किंतु यह भी सत्य है कि जिस जीवन का हम अभिनय करते हैं उसका उसी प्रकार का नाट्य असंभाव्य ही नहीं असंभव है, अन्यथा 'आशादेवी' के लिये उन्हीं को लाना पड़ेगा साथ ही 'शर्माजी' का बंगला भी, जो रंगमंच पर कदापि नहीं आ सकता। सच तो यह है और निकल ने कहा भी है 'किसी ने भी तीन दीवाल का कमरा नहीं देखा है, न कोई हृदय खोलकर यों बातें ही करेगा यदि उसे यह पता चल जाय कि सहस्रों की संख्या में लोग उसकी बातें सुन रहे हैं, कोई भी प्रतिबिंबित चित्र बिंब नहीं हो पाता।'[1] सचमुच चौथी दीवाल के ओट के कारण प्रेक्षक देख ही क्या सकता है? इसीलिये यथातथ्य का अक्षरशः निर्वाह संभव ही नहीं है। इस संबंध में रूस के प्रसिद्ध विद्वान् इवरीनाफ़ के शब्द भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं हैं 'यदि आपको यथातथ्य दर्शन में विश्वास है तो बुद्धि का आश्रय न छोड़िए। किसी जर्मन अथवा स्वीड से अंग्रेजी अथवा रूसी भाषा न बोलवाइये। यदि चौदहवीं शताब्दि का दृश्य दिखाना है तो उसी समय की बनी हुई सामग्री का उपयोग कीजिए। प्रेक्षक का ध्यान न रखकर चौथी दीवाल भी बना डालिए। तभी तो जीवन की वास्तविकता से संपर्क स्थापित कर सकते हैं।'[2] वास्तव में इस संकीर्ण अर्थ में यथातथ्य निरुद्देश्य और असंभव दोनों है। नाटक का भ्रम कभी पूर्ण भ्रम नहीं हो पाता। अधिकाधिक साम्य अथवा सादृश्य ही हाथ आ सकता है। किसी न किसी अंश में कल्पना का उपयोग प्रेक्षक को करना ही पड़ता है। किंतु इसका यह आशय कदापि नहीं है कि स्वाभाविकता लाने का हम प्रयत्न तक न करें अथवा

१—निकल—द डेवलपमेंट आव् द थियेटर।

२—इव्रीनाफ—थियेटर इन लाइफ।

शेक्सपीयर के समय की भाँति किसी व्यक्ति को खड़ा करके दीवाल का अनुमान कर लें अथवा चीनियों की भाँति दो कुर्सियों पर रखे हुए पटरे पुल की कल्पना कर लें अथवा चारुदत्त के गृह से दो पग चलकर बसंतसेना का गृह मान लें। इस प्रकार की कल्पना मनोवैज्ञानिक अवस्थिति के सर्वथा प्रतिकूल है और तथ्य तो यह है कि आज हम विचारात्मक अधिक हो गए हैं और उसी परिमाण में हमारी असंभाव्य की कल्पना भी क्षीण हो गई है।

अस्तु, एक ओर जहाँ विशालाकार नाट्यमंडप का निर्माण अनावश्यक तथा निरुद्देश्य है, वहाँ सुंदर रंगमंच तथा विभिन्न उपकरणों की भी आवश्यकता है। प्रभाव ही मूलतः लक्ष्य है और उसी के लिये उचित साधनों की अनुपेक्षणीयता है। इसीलिये मानव जीवन की अपेक्षा भाग्य को अधिक प्रबल सिद्ध करने के लिये नाट्य संचालकों ने हार्डी के 'डायनासट्स' के प्रदर्शनार्थ विशालाकार रंगपीठ तथा विशाल द्वार बनवाए थे। इसी प्रकार यह सिद्ध करने को कि मानव जीवन के आधार निरर्थक हैं मंच के पृष्ठतल में अटपटे चित्रों से खचित पर्दे टाँगे गए थे। इब्सन और चेखोव के नाटकों में मानव जीवन सर्वोपरि मान्य होने से रंगपीठ कम चौड़ी तथा कम ऊँची रक्खी गई थी। अतः रंगमंच और दृश्यों की आवश्यकता है और रहेगी।

हमारे विचार से रंगमंच साधारण 'रिपर्टरी थियेटर' सरीखा होना प्रत्येक दृष्टि से उचित होगा। उसपर हम विचित्र दृश्यपटियों में मनोनुकूल वातावरण उत्पन्न कर सकते हैं। जहाँ तक संभव हो नाटकीय भ्रांति में अल्पतम बाधा पड़े यही सुप्रयास होना चाहिए। इसी लिये प्रकाश आदि का उपयोग और चमत्कार के लिये अन्य उपकरणों का प्रयोग होना हितकर है। सामाजिक नाटकों में तो दृश्य विधान की आवश्यकता यों ही कम पड़ती है क्योंकि उनके अधिकांश क्रिया व्यापार एक कमरे, अथवा बरामदे में ही प्रदर्शित हो जाते हैं। उदा-

हरणार्थ 'सिंदूर की होली' के लिये केवल एक कमरे की तथा उसके आगे के बरामदे की आवश्यकता है (देखिए चित्र सं० १२)। जटिल समस्या तो ऐतिहासिक अथवा रूमानी नाटकों के संबंध में है। प्रसाद जी के नाटक दृश्यों की अंतःपटियों तथा पार्श्वकों की सहायता के बिना कदापि अभिनेय नहीं हो सकते, तात्पर्य यह कि उनके लिये दृश्य विधान आवश्यक है। आर्चर का कथन है 'दृश्यों का सुंदर विधान इसलिये किया गया है कि नाटककार को चरित्रचित्रण का उपयुक्त पृष्ठतल मिल जाय।'[1] अतएव साधारण रंगमंच दृश्यादि के साधन, प्रकाश का उचित योग तथा नेपथ्य संगीत का आयोजन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनिवार्य है।

———

१—आर्चर—आन प्ले मेकिंग।

निष्कर्ष

नाटक मानवीय जीवन की अभिव्यक्ति करनेवाली सर्वश्रेष्ठ दृश्य एवं श्रव्य कलाकृति है। इसी में जीवन का सुख-दुःख, प्रेम-घृणा, कोमलता-क्रूरता बौद्धिकता और भावुकता निहित है। वस्तुतः नाट्य स्रष्टा भी एक सामाजिक प्राणी है, वह भी यूथचारी प्रवृत्ति से प्रेरित होता है और उसी की प्रेरणा से अपनी भावसामग्री को रचनाबद्ध करता है।

युग की पुकार और वातावरण की प्रतिच्छाया से प्रभावित होने वाला कलामनीषी निरंतर भावनाओं की विशाल सृष्टि में अनंत जीवन को चित्रित करता रहा है; किन्तु जीवन का क्षेत्र व्यापक है और कलाकार का समय सीमित, अतः सम्पूर्ण जीवन का चित्रण उसके लिये संभाव्य नहीं है। वह अपने प्रतिभा कौशल से जीवन के कतिपय विशिष्ट चित्र चुनता है, एक वैज्ञानिक की भाँति उन पर मनन करता है और छाँटता है, तदनंतर कुशल चितेरे की भाँति छोटे से चित्र-फलक पर संपूर्ण चित्र को उतार देता है। यहीं उसकी संकेंद्रण शक्ति और निष्पक्षता का उपयोग होता है। वह सभी का मित्र है, सभी का भला चाहता है; किन्तु नीरस उपदेश देकर नहीं—अपितु अपनी प्रतिभा की सहायता से वह सरस साहित्य की रचना करके प्रेक्षक के हृदय को नचा देता है, जीवन का नवनिर्मित चित्र उसके सम्मुख रख देता है जिसमें मानवता के अस्तित्व का उत्साहवर्धक चित्रण है, इस प्रकार वह श्रेय नहीं प्रेय ज्ञान द्वारा मनोवृत्तियों का परिशोधन करता है।

गुणावगुण का समन्वय मानव प्रवृत्तियों का दास है, जिनमें कुछ तो जन्मजात होती हैं और कुछ परिस्थितिजन्य अभ्यासगत हो जाती है।

इन्हीं प्रवृत्तियों का शोधन अथवा ऊर्जस्वीकरण साहित्य का उद्देश्य रहा है और इसी उद्देश्य की पूर्ति में आदि युग से ही कलाकार निमग्न रहे हैं। लोकरंजन ही उनका अभीष्ट है और यह दशा मानव में तब होती है जब वह किसी भाव अथवा वस्तु से प्रेरित होकर आह्लादित होता है—इसी आह्लाद की अवस्था को मनोवैज्ञानिक 'प्रवृत्ति की तुष्टि' कहते हैं और यही सार्वजनिक तुष्टि वस्तुतः साधारणीकरण है, क्योंकि जब तक हृदय का भाव-साम्य न होगा तब तक आत्मसात् की अवस्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती।

प्राचीन समय में जीवन में संकुलता न थी, घटनाओं का घटाटोप न था। भावनाओं के संसार में हृत्तंत्री से विवादी स्वर नहीं निकलते थे—जीवन में सुख था, संतोष था। छल-प्रपंच से मानवात्मा का परिचय न था, ये शब्द केवल राजनीति के कोष में ही सुरक्षित थे। किन्तु ज्यों ज्यों सभ्यता के विकास के साथ व्यक्तित्व विकास होता गया, भाव का स्थान विचार लेता गया। मानव ने अपनी आत्मा को टटोलना प्रारंभ किया और उसका अंतर्जगत बहिर्मुख हो उठा। स्वार्थ-लिप्सा ने सोये अहं को जगाया—वैषम्य ने समस्या को उत्पन्न किया और तब आत्मतुष्टि के लोभ ने विध्वंसात्मक प्रवृत्ति को जगाकर संसार को रणस्थल में परिवर्तित कर दिया।

मानव मानवता को भूल आत्मलाभ तथा आत्मरक्षा में व्यस्त हो गया। ऊँच-नीच के वर्गभेद ने शोषक और शोषित की भावना को जागरित कर दिया, यहाँ तक कि मनुष्य का मूल्य भी अर्थ की तुला पर आँका जाने लगा। जीवन में एक भीषण कुहराम मच गया और आधुनिकता अभिशाप बन बैठी। ऐसी परिस्थिति में जहाँ पग-पग पर उलझन है, आगे का मार्ग सूझता नहीं, मानव किसे पुकारे? सभी तो इस कर्मक्षेत्र में चक्षुविहीन से दौड़े जा रहे हैं। बौद्धिक क्षेत्र में विज्ञान का बोलबाला है, उस विज्ञान का जिसने मानव मन से ईश्वर और धर्म का भय मिटा दिया है और उसे इतना जागरूक

कर दिया है कि वह हृदय की पुकार की अवहेलना कर मस्तिष्क का दास बन गया है। अतः ऐसे विज्ञानवादी और बुद्धिवादी युग में नाटक ही वह कला है, साधन है, जो हमारे मनोभावों को परिष्कृत करके, हमारी प्रवृत्तियों को संतुष्ट करके हमें आनंद और ज्ञान प्रदान कर सकता है।

नाटक महान है—इसमें जीवन की शक्ति तथा दुर्बलता, आशा और निराशा के हृदयद्रावी चित्र अंकित हैं। इसी में शोक और आनंद जागरित तथा शांत होते हैं, इसी में हृदय के प्रकंपनों का रहस्य निहित है। वस्तुतः मानवहृदय अनेक जन्मजात वृत्तियों का अखाड़ा है जो उद्दाम असंतुष्ट वासनाओं का रूप धारण कर सर्वदा बाहर आने को कुलबुलाती रहती हैं तथा जीवन में भयंकर परिस्थितियों को उद्भूत करती रहती हैं। इन्हीं सहजात व्याकुल प्रवृत्तियों को तुष्ट करना ही नाटककार का उद्देश्य है। इस दृष्टि से नाटक के तत्वों का मनोवैज्ञानिक विवेचन होना आवश्यक है, विशेषतः यह देखने को किन किन सूक्ष्म तथा स्थूल वस्तुओं से इसका निर्माण हुआ है और यह किस प्रकार हमारी प्रवृत्तियों, मनोभावों तथा अंतःक्षोभों से संबंधित है। मानव में प्रमुखतः कुतूहल और अहं की प्रवृत्तियाँ होती हैं और ये ही प्रवृत्तियाँ उसे नाटक की ओर आकर्षित करती हैं, जिन्हें नाटककार संसूचन तथा संशोधन द्वारा ऊर्जस्वित करता है। यह तो सर्वतः मान्य है कि नाटक का प्रारंभ प्रत्येक भाषा में क्रिया के अनुकरण से हुआ है और नाटक का सहज गुण है जीवन की अभिव्यक्ति, उस जीवन की जो केवल क्रियाओं का समूह नहीं, अपितु जिसके अंतर्गत अनेक व्यक्त-अव्यक्त भावों का सागर लहरा रहा है। जो व्यक्त है वह तो स्पष्ट है; किन्तु जो अव्यक्त है, रहस्यमय है। इसी रहस्यमयता को नाटककार मानव हृदय चीर कर अनावृत्त करता है—और यही है आधुनिक नाटककारों की विशेषता।

प्रेक्षक जीवन चाहता है, सिद्धांत नहीं। वह सत्य का जिज्ञासु है, उस सत्य का जिसका उद्घाटन कर वह मानवमात्र के हृदय की गहराई तक पहुँच सके, समवेदना प्रकट कर सके और अपनी रागात्मक प्रवृत्ति को जागरूक कर सके। इसी लिये आज का नाटककार प्राचीन नाटककारों की भाँति नाटक के प्रारंभ में सूत्रधार तथा नटी का प्रवेश करवा कर सिद्धांत प्रतिपादन नहीं करता, अपितु मनोवैज्ञानिक प्रणाली को अपनाकर वह घटनाओं का इस प्रकार व्यूहन करता है कि वे किसी गुह्य शृंखला की कड़ियों की भाँति शनैः शनैः खुलती जाती हैं और नाटक के अंत में नाटककार का जीवनदर्शन स्वतः स्पष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से आज नाटक में 'उद्देश्य' के स्थान पर 'जीवन-दर्शन' शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसी विचार को आधार मानकर इस पुस्तक में यह दिखाने का प्रयास किया गया है, कि कथानक, कथोपकथन, जीवनदर्शन, शैली, व्यक्तित्व एवं रंगमंच नाटक के मौलिक तत्व हैं और इनकी अवस्थिति मनोवैज्ञानिक है तथा ये नाटक को सफलता प्रदान करने के आवश्यक साधन हैं।

कथानक के संबंध में हमारी यह धारणा है कि जीवित रंगमंच भावों की तलछठ पर जीवित नहीं रह सकती। उसे जीवन में आस्था रखनी होगी। यद्यपि जीवन गतिशील है—कलाकार उसके साथ दौड़ नहीं सकता, तथापि अपनी चयन और कल्पना शक्ति का उसे उपयोग करना अनिवार्य है तभी वह मानव को पकड़ सकेगा और उसे पार्श्ववर्ती बंधनों से मुक्त करके उसके वास्तविक व्यक्तित्व को प्रकट कर सकेगा। रूपांतरित जीवन को पकड़कर केवल उसके बाह्य स्वरूप को चित्रित कर देने से आंतरिक व्याप्ति प्रकाश में न आयेगी। अतः बिना मनोविज्ञान का सहारा लिए भावनाओं को टटोलना कठिन है, क्योंकि केवल बाह्य क्रियाओं के आधार पर मानव का वास्तविक चरित्र नहीं प्राप्त हो सकता और फिर मानव जीवन सरल रेखा नहीं है, उसमें अनेक उभार और खाइयाँ हैं। इन्हीं विषमताओं का नाटककार

अध्ययन करता है तथा देशकाल और वातावरण के अनुकूल उन्हें प्रकट करता है। किन्तु कुछ समस्याएँ ऐसी हैं, जो सहजात प्रवृत्तियों द्वारा उद्भूत होने के कारण सार्वकालिक और सार्वभौमिक हैं। ये हैं यौन तथा आत्मरक्षा संबंधी प्रवृत्तियाँ। प्रकृति की पुकार होने के कारण ये प्रवृत्तियाँ आदिम काल से चली आ रही हैं और सभ्यता के साथ-साथ अनेक तोड़मरोड़ खाती हुई आज भी सभ्यता के गहन आवरण से छिपी रहकर भी ये पूर्ववत् वर्तमान हैं। प्रमुखतः ये ही दो ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें ऊर्जस्वित करना ही नाटककार, कलाकार अथवा साहित्यकार का उद्देश्य है।

मानवीय जीवन का जीवित मानव द्वारा अभिनय कराने की क्षमता नाटक में ही है अतः जीवन को अत्यंत निकट से स्पर्श करने के कारण नाटककार का उत्तरदायित्व अन्य साहित्यकारों की अपेक्षा अधिक गुरुतर हो जाता है। इस दृष्टि से उसकी रचना को सर्वोत्कृष्ट तथा मनमोहक होना चाहिए। मनमोहकता ही प्रेक्षक को आकर्षित करती है, तन्मयीभूत करती है तथा प्राचीन सिद्धांत के अनुरूप रस निष्पत्ति अथवा अर्वाचीन सिद्धांत के अनुकूल आत्मविभोरता को पूर्ण रूप से उत्पन्न करने में समर्थ होती है। यही वह अवस्था है, जब प्रेक्षक अपने आपको भूलकर स्वयं नाटक का पात्र बनकर अपनी आत्मा को टटोलने लगता है। अतः नाटक में संघर्ष निरूपण आवश्यक हो जाता है; क्योंकि उसी से नाटकीय घातों प्रत्याघातों, द्वन्द्वों और जीवन का वास्तविक रूप हृदयपटल पर ग्रहण कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त नाटक को आत्मा की रक्षा, विकास, संवर्द्धन एवं चरमसीमा प्राप्ति के लिये रंगमंच, दृश्यादि बाह्योपकरण की भी आवश्यकता है। यद्यपि चलचित्र के विकास ने नाटक को काफी आघात पहुँचाया है, तथापि नाटक के सुखद भावी जीवन की आशा है और इधर जनता की अभिरुचि भी नाटकों की ओर बढ़ रही है।

वस्तुतः रसानुभूति के लिये सौंदर्याभिव्यक्ति आवश्यक है और

सौंदर्यप्रदर्शन तथा चलचित्र दो भिन्न वस्तुएँ हैं। आधुनिक युग में हमने बहुत कुछ सहन और मनन किया है। नाटककार की अनंत अनुभूतियाँ एवं भावराशि नाटक के लिये उत्पन्न हो चुकी हैं, विपरीत इसके व्यापक क्षेत्र तथा समस्त वैज्ञानिक साधन संपन्न होकर भी चलचित्र निर्माता, प्रसिद्ध चलचित्र स्टूडियो संचालक आर० डी० चेक के शब्दों में यह सोचता है—'केवल एक विचार हमारे मस्तिष्क में दौड़ता रहता है कि क्या जनता उचित मूल्य देगी ?'[1] ऐसी अवस्थिति में चलचित्र में कलात्मकता की कल्पना संभव नहीं है। किंतु मानव तो कलाप्रेमी है, अतः यदि उसे जीवन के नूतन अंशों का चित्रण मिलता रहे तो वह कदापि नाटकसाहित्य से उदासीन न रहेगा। जीवन अक्षय भण्डार है—गतिशील एवं वैभवपूर्ण।

हमारा नाट्यसाहित्य युरोपीय नाट्यसाहित्य की भाँति विकसित न हो सका, उसका कारण यह है कि पुनरुत्थान काल (१६वीं शती) में नाटककार परंपरा निर्वाह के चक्कर में तथा प्राचीन मतों को ही नाटक का आदर्श सिद्धांत मान प्रेक्षक के मनोभावों को विस्मृत कर बैठे थे। उन्होंने यह नहीं समझा था कि मानव मनोवृत्तियों का प्रतीक है और उसकी कुछ स्वाभाविक इच्छाएँ तथा प्रेरणाएँ हैं एवं चरित्रचित्रण ही आधुनिक नाटकों का जीवन है। संभवतः यही कारण था कि वे व्यक्तिवैचित्र्य को पाश्चात्य देश की देन समझ अंगीकार करने को प्रस्तुत न थे और उसे साधारणीकरण में बाधक समझते थे। किंतु व्यक्तिवैचित्र्य ही चमत्कार और कुतूहल को जन्म देता है। असाधारण की ओर आकृष्ट होना मानव की सहज प्रकृति है—वह उसकी असाधारणता के रहस्य को जानने के लिये व्याकुल हो उठता है अतएव इस दशा में नाटककार का यह धर्म हो जाता है कि मानव के गुणावगुण को परखे, परिस्थितियों को निरखे और तब क्रिया-

---

१—ए० निकल द्वारा उदाहृत—'सिनेमा एंड थियेटर'।

प्रतिक्रिया के अनुपात में चरित्रनिर्माण करे। वस्तुतः क्रियाप्रतिक्रिया के अनुपात में अंतर लाना ही चरित्र का क्रमिक विकास है। इसी प्रकार कथोपकथन में भी ऐसे शब्दों का प्रयोग होना आवश्यक है, जिनके द्वारा व्यक्तित्वविकास स्वतः हो जाय। अतः बिना मानव-मनोविज्ञान की ओर उन्मुख हुए यह जानना असंभव होगा। इसलिये नाटकीय तत्वों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और आवश्यक हो जाता है। अभी तक तो हम द्वेषपूर्ण स्पर्धा से जर्जरित होकर चलचित्र से वास्तविक क्षेत्र में द्वंद्व करते रहे, यह न समझा कि प्रकृति के अनंत प्रसार को वह अपने साधनों द्वारा अधिकृत कर चुका है। इसलिये भी नाटक को सफल बनाने के लिये मनोवैज्ञानिक आधार पर जानना पड़ेगा कि प्रेक्षक की प्रवृत्तियों का आग्रह किस ओर है। सच तो यह है कि जिस तथ्य को वह ढूँढ़ रहा है वह न तो घटनाओं तथा परिस्थितियों का वास्तविक निरूपण है और न उसका यथावत् चित्र ही। वह चाहता है सत्यारूढ़ होना, जिसका साधन है गुरुतर भावों का स्पष्टीकरण।

इस पुस्तिका द्वारा हमारा प्रयास केवल इतना है कि नाटक प्रणयन अबुध हाथों से होना ठीक नहीं है। कलाकार यदि देवता नहीं तो आदर्श मनुष्य तो अवश्य है। वह सृष्टिकर्ता है। अतः उसे यह जानना आवश्यक है कि जब हृदय का मस्तिष्क, मनोविज्ञान, सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति एवं जीवन के साथ संपर्क हो जाता है तभी कला का भव्यरूप दृष्टिगत होता है और तभी वह मानव तथा विश्व का कल्याण करती है किंतु इसके लिये नाटककार को जीवन का, मानव का उसके भावों का एवं मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं का अध्ययन करना आवश्यक है। कोई भी नाटककार नाटकसर्जन में अब मनोविज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकता क्योंकि जीवन के मूल में प्रवृत्तियों का प्रमुख स्थान है। इस पुस्तिका द्वारा इस ओर इंगित करने का प्रयास किया गया है।

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ
नाटके	नाटक	४
रग	रंग	४
ग्रतिपादनार्थ	प्रतिपादनार्थ	क
वाङ्गमय	वाङ्मय	२
पचास-साठ	डेढ़ सौ	१५
उदास	उदात्त	१७
कृषि	ऋषि	१७
डा० कीथ के	डा० कीथ ने	२६
ज्योत्सना	ज्योत्स्ना	३२
लेना पड़ा	लेनी पड़ी	४१
शताब्दि	शताब्दी	४३,१४५
उद्धृत	उद्भूत	६१
कर्म स्पर्शी	मर्म स्पर्शी	६८
लेम कूपर	लेन कूपर	७६
ल्यू आर्चर	डबल्यू आर्चर	७८
इवरीनाफा	इवरीनाफ	८३
६६वीं शती	१६वीं शती	८३
रककर	रखकर	८७
ऊर्ज्वस्वीकरण	ऊर्जस्वीकरण	८८
अवस्थ	अवस्था	६४
तब जिनको	जीवन को	६६
उसने	उन्होंने	६६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ
पीलिवस	पीलियस	११२
यों	या	११२
वेष्ठित	वेष्टित	११४
सपरिवार	परिवार	११८
एंपर	एम्परर	११६
दूरव्रर्ती	दूरवर्ती	१३४
आवश्वकता	आवश्यकता	१३४
वायुमंडल	वातावरण	१३६
द्दश्यों	दृश्यों	१४६
फूटलाइट	फुटलाइट	१४७
ड्यूटर	ड्यूटस्	चित्र संख्या ७
१५	१२	,, १५

छूटे-शब्द

(इथोस) के पूर्व	चरित्र	२४
'जन्मजात' के पूर्व	ये	४५
'· नन्य प्रेमी' के पूर्व	राम	६१३
'भ्रम' के पश्चात्	है	१३
वातावरण के पूर्व	प्राकृतिक	१३६
'पटरे' के पश्चात्	से	१५०

अनावश्यक शब्द

'ऐसी' के पूर्व	बिना	११
'ज्योंही' के पूर्व	और	६६
'अद्भुत' के पश्चात्	का	१२३

[illegible]